मुख्य वक्तव्य

प्रिय पाठको ! आत्मा को संसार चक्र में परिभ्रमण करते शुभाशुभ कर्मों के प्रयोग से प्रत्येक पदार्थों की प्राप्ति हुई र भविष्यत् काल में यदि मोक्ष पद उपलब्ध न हुआ तो श्यमेव होगा । अतः धर्म प्राप्ति का होना असम्भव नहीं तो कठिनतर तो अवश्यमेव है । कारण कि धर्म प्राप्ति कर्म- य वा क्षयोपशम भाव के कारण से ही उपलब्ध हो सकती । धर्म प्रचार से भी बहुत से सुलभ आत्माओं को धर्म- प्ति हो सकती है इसलिये धार्मिक पाठशालाओं की अत्यन्त वश्यकता है, जिससे प्रत्येक बालक और बालिकाओं के वित्र और सकोमल हृदयों पर धार्मिक शिक्षाएँ अंकित हो जाएँ। यपि भारतवर्ष में सांसारिक उन्नति के लिये अनेक राजकीय ठशालाएँ वा विश्वविद्यालय विद्यमान हैं और उनमें प्रतिवर्ष कड़ों विद्यार्थी उत्तीर्ण होकर निकलते हैं तथापि धार्मिक शि- ओं के न होने से उन अविद्यार्थियों का चरित्र संगठन सम्यग- नहीं देखा जाता इसका मुख्य कारण यही है कि वे ीं प्रायः धार्मिक शिक्षा से वंचित होते हैं । अतः उन

विद्यार्थियों के माता पिताओं को योग्य है कि वे जिस प्रकार
सांसारिक उन्नति करते हुए अपने पुत्र और पुत्रियों को देखना
चाहते हैं ठीक उसी ... प्रिय ... बालि-
काओं के धार्मिक ... भी ...
पवित्र ... रूप

धार्मिक शिक्षाओं द्वारा आत्मा से पृथक् करने की चेष्टा करते रहना यही धार्मिक शिक्षाओं का मुख्योद्देश्य है । अतः सर्व धर्मों में सम्यग् दर्शन ज्ञान चारित्र प्रधान श्री जैन धर्म की धार्मिक शिक्षायें परम प्रधान हैं।

मेरे हृदय में चिरकाल से ये विचार उत्पन्न हो रहे थे कि एक इस प्रकार की शिक्षावली के भाग तय्यार किये जावें, जिनके पढ़ने से प्रत्येक विद्यार्थियों को जैनधर्म की धार्मिक शिक्षाओं का सौभाग्य उपलब्ध हो सके । तब मैंने स्वकीय विचार श्री श्री श्री १००८ स्वर्गीय श्री गणावच्छेदक वा स्थविरपदविभूषित श्री गणपतिराय जी महाराज के चरणों में निवेदन किये तब श्री महाराज जी ने मुझे इस काम को आरम्भ कर देने कि आज्ञा प्रदान की तब मैंने श्री महाराज जी की आज्ञा शिरोधारण करके इस काम को आरम्भ किया । हर्ष का विषय है कि इस शिक्षावली के सात भाग निकल गये और कई भाग तो छठी आवृत्ति तक भी पहुँच चुके हैं जैन जनता ने इन भागों को अच्छी तरह अपनाया है ।

अब इस शिक्षावली का अष्टम भाग जनता के सामने आ रहा है इस भाग में उन उपयोगी विषयों का संग्रह किया गया है जिस से अष्टम श्रेणी के बालक वा बालिकाएँ भली प्रकार से

लाभ ले सकें। कर्मवाद वा सत्यवाद अहिंसावाद तथा पार्थवाद अवश्य पठनीय हैं इनके अध्ययन से प्रत्येक व्यक्ति वास्तविक लाभ होसकता है।

यह सब श्री श्री श्री १००८ गणावच्छेदक पदविभूषित श्री मुनि जयरामदास जी महाराज की वा श्री श्री श्री प्रवर्तक पद विभूषित श्री मुनि शालिग्राम जी महाराज की कृपा का फल है जो मैं इस काम को पूरा कर सका। अतः विद्यार्थियों को योग्य है कि वे जैन धर्म की शिक्षाओं से स्वजन्म को पवित्र करें।

गुरुचरणरजसेवी—
आत्मा

णमोत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स

प्रथम पाठ

(कर्मवाद)

आत्मा एक स्वतंत्र पदार्थ है जो चेतन सत्ता धारण करने वाला है जिसके वास्तव में वीर्य और उपयोग मुख्य लक्षण हैं। क्योंकि आत्मसत्ता की सिद्धि केवल चार बातों पर ही निर्भर है। जैसे कि—ज्ञान, दर्शन, सुख और दुःख।

पदार्थों के स्वरूप को विशेषतया जानना साथ ही उन पदार्थों के गुण और पर्याय के भेदों को भली प्रकार से अनुभव करना उसी का नाम ज्ञान है।

पदार्थों के स्वरूप को सामान्यतया अवगत करना उसी को दर्शन कहते हैं। जैसे कि—किसी व्यक्ति को नाम मात्र से देहली नगर का सामान्य बोध जो होता है, उसी का नाम दर्शन है। जब फिर वह व्यक्ति उस नगर की वसति, जनसंख्या या नगर की आकृति तथा व्यापारादि के सम्बन्ध में विशेष परिचय कर लेता है, उसी को ज्ञान कहते हैं। सो ये दोनों गुण आत्मा के साथ तदात्म सम्बन्ध रखने वाले हैं।

यदि किसी नय के आश्रित होकर गुणों के समूह को ही आत्मा कहा जाए तदपि अत्युक्ति नहीं कही जासकती। कारण कि—गुण और गुणी का तदात्म रूप से सम्बन्ध होरहा है। ये दोनों गुण निश्चय से आत्मतत्त्व की सिद्धि करने

जब हेतु ही नष्ट होगया तो भला फिर फल किसको दिया जाए। अर्थात् जब कर्म करने वाला आत्मा ही क्षण विनश्वर मान लिया तो फिर उसको कर्मफल मिलना किस प्रकार माना जा सकता है। अतः निष्कर्ष यह निकला कि आत्मतत्त्व के नित्य होने पर पर्याय उत्पाद और व्यय धर्मयुक्त मानने युक्तियुक्त हैं। अर्थात् आत्मद्रव्य क्षणविनश्वर नहीं किन्तु पर्याय क्षणविनश्वर धर्म वाले हैं।

अतः आत्मतत्त्व शाश्वत, नित्य, ध्रुव, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अक्षय सुख और अनंत शक्ति वाला मानना न्याय संगत है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि—जब आत्म द्रव्य उक्त गुणों से युक्त है तो फिर यह दुःखी, रोगी, वियोगी, अज्ञानी, मूढ इत्यादि अपगुणों से युक्त क्यों है? इस प्रश्न के समाधान में कहा जाता है कि—यह सब आत्मा की पर्यायें कर्मों के कारण से हुई हैं। जिस प्रकार निर्मल जल में निकृष्ट पदार्थों के मिलने से जल की निर्मलता या स्वच्छता आवरणयुक्त होजाती है तथा जिस प्रकार शुद्ध और पवित्र वस्त्र मल युक्त होने से असार या अप्रिय लगता है ठीक उसी प्रकार आत्म द्रव्य भी कर्मों के कारण निज गुणों को आच्छादित किए हुए है तथा उन कर्मों के आवरण से ही इस की उक्त दशाएं प्रतीत होती हैं और फिर यह स्वयं भी अनुभव करने लगता है कि मैं दुःखी हूँ, रोगी हूँ, शोकी हूँ, इत्यादि।

परन्तु यह कर्मों का आवरण आत्मा के साथ तादात्म्य सम्बन्ध वाला नहीं है क्योंकि यदि इसका आत्मा के साथ तादात्म्य सम्बन्ध मान लिया जाए तब फिर उत्पाद और व्यय

ठीक मानने पर आत्मा फिर आत्मदर्शी होसकता है। आत्मदर्शी आत्मा ही फिर लोकालोक का पूर्णतया ज्ञाता होकर निर्वाण पद प्राप्त कर सकता है। इसलिये प्रत्येक आत्मा को योग्य है कि वह सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यग् चारित्र द्वारा स्वकृत कर्मों को क्षय कर मोक्ष पद की प्राप्ति करे।

वास्तव में जो आत्मा कर्मों से सर्वथा विमुक्त है उसी का नाम मोक्षात्मा है तथा उसी का नाम निर्वाण पद है। फिर उसी आत्मा को सिद्ध, बुद्ध, अज, अजर, अमर, पारंगत, परंपरागत, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, सच्चिदानन्द, ईश्वर, परमात्मा, परमेश्वर इत्यादि नामों से कहा जाता है।

उत्तर—नहीं। ऐसा मानने पर पहिले जीव शुद्ध है इस प्रकार मानना पड़ेगा। जब जीव सर्वथा शुद्ध मानलिया गया तो फिर इसको कर्म लगे क्यों? तथा इस प्रकार मानने पर अजीव अथवा सिद्धों को भी कर्म लग जाएँगे इसलिये यह पक्ष भी माह्य नहीं है।

प्रश्न—तो क्या आत्मा और कर्म युगपत् समय में ही पन्न हुए?

उत्तर—नहीं। क्योंकि इस प्रकार मानने पर आत्मा और र्म दोनों ही उत्पत्ति धर्म वाले मानने पड़ेंगे। सो जब आत्मा ार कर्म उत्पत्ति धर्म वाले हैं तब इन का विनाश भी मानना ड़ेगा। तथा फिर दोनों की उत्पत्ति में दोनों के पहले कारण या क्या थे क्योंकि कारण के मानने पर ही कार्य माना जा कता है जैसे मिट्टी से घड़ा। इसलिये यह पक्ष भी ठीक नहीं तीत होता।

प्रश्न—तो क्या फिर जीव सदा कर्मों से रहित ही है?

उत्तर—यह पक्ष भी ठीक नहीं है। क्योंकि जब जीव कर्मो रहित ही मान लिया तो फिर इसको कर्म लगे क्यों? था कर्मों के बिना ये संसार में दुःख वा सुख किस प्रकार भोग कता है। तथा यदि कर्म रहित भी आत्मा संसार चक्र में रिभ्रमण कर सकता है तो फिर मुक्तात्माएँ भी संसार चक्र में रिभ्रमण करने वाली माननी पड़ेंगी। अतः जीव कर्मों से हित भी नहीं माना जा सकता।

प्रश्न—तो फिर जीव और कर्म का स्वरूप किस प्रकार ानना चाहिए?

उत्तर—जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि काल से है।

प्रश्न—क्या कर्म करने का स्वभाव जीव में है या कर्म का कर्ता कर्म ही है?

उत्तर—इस प्रश्न के उत्तर में दोनों नयों का अवलम्बन करना पड़ता है जैसे कि व्यवहारनय और निश्चयनय।

प्रश्न—दोनों नयों के मत में कर्म कर्ता कौन है?

उत्तर—व्यवहारनय के मत में कर्म कर्ता जीव है, क्योंकि व्यवहार पक्ष में शुभाशुभ कर्मों का कर्ता जीव ही देखा जाता है किन्तु निश्चय के मत में कर्म का कर्ता कर्म ही है क्योंकि कर्म कर्ता वास्तव में कारण है—कर्मसत्ता होने पर ही उसकी आकर्षण शक्ति द्वारा नूतन कर्मों का संचार होता है। जिस प्रकार रज्जु का संवलन करते समय पिछले तंतु के साथ नूतन तंतु का सम्बन्ध किया जाता है तथा करने में जब रज्जु बनाया जाता है तब भी तंतुओं का परस्पर संवलन किया जाता है ठीक तद्वत् कर्मसत्ता के होने पर ही वह कर्मसत्ता नूतन कर्मों का आकर्षण कर लेती है। इस न्याय के अनुसार कर्म के करनेवाला वास्तव में कर्म ही है।

कर्म के दो भेद हैं। जैसे कि—द्रव्य कर्म और भाव कर्म। अणु-स्कंधों जो कर्मों की वर्गणायें हैं वह द्रव्य कर्म हैं किन्तु जो जीव के रागद्वेषादि युक्त भाव हैं वह वास्तव में भावकर्म हैं क्योंकि जीव की ज्ञान चेतना और कर्मफल चेतना, वास्तव में दोनों ही निमित्त भावकर्म के करनेवाले प्रतिपादन की गई हैं अतः निश्चयनय के मत में कर्म कर्ता कर्म ही है।

इस स्थल पर यदि ऐसा कहा जाय कि—"अप्पा कत्ता विकत्ता य" इस प्रकार सूत्र में आत्मा कर्ता और विकर्ता (भोक्ता)

माना गया है इस का कारण क्या है ? इस शंका के समाधान में कहा जाता है कि शास्त्र में—उपचार नय के मत से आठ प्रकार से आत्मा वर्णन किये गए हैं। जैसे कि—

१ द्रव्यात्मा २ कषायात्मा ३ योगात्मा ४ उपयोगात्मा ५ ज्ञानात्मा ६ दर्शनात्मा ७ चारित्रात्मा और ८ बलवीर्यात्मा।

इस स्थान पर कर्म के करने वाले कषायात्मा और योगात्मा ही प्रतिपादन किये गए हैं नतु अन्य आत्मा। तथा जिस प्रकार कषायात्मा और योगात्मा द्रव्य कर्म के कर्ता माने गए हैं ठीक उसी प्रकार द्रव्यपुद्गल का भोक्ता भी उक्त ही आत्मा है तथा जिस प्रकार भावकर्म के कर्ता जीव के रागादि भाव हैं ठीक उसी प्रकार सुख दुःखादि के अनुभव करने वाले भी जीव के रागादि भाव ही हैं। परन्तु व्यवहारनय के मत से कर्म के करने वाला जीव ही है अजीव नहीं है। साथ ही इस बात का भी ध्यान रख[illegible] कि केवल जीव या केवल अजीव कर्ता नहीं [illegible] और पुरुष का सम्बन्ध है तब ही कर्ता कहा [illegible] घट का कर्ता माना जाता है [illegible] जीव के कर्मयुक्त अध्यवसाय कर्ता कहे [illegible] सिद्धान्त यह निकला [illegible] कर्म कर्ता [illegible] (क्रम) [illegible] है।

इस स्थान पर

कर्मवाद में होने वाले आक्षेपों का प्रत्युत्तर प्रथम कर्म ग्रन्थ की प्रस्तावना में इस प्रकार से वर्णन किया गया है जैसे कि—

कर्मवाद पर होनेवाले आक्षेप और उन का समाधान

ईश्वर को कर्ता या प्रेरक मानने वाले कर्मवाद पर नीचे तीन आक्षेप करते हैं:—

(१) घड़ी मकान आदि छोटी-मोटी चीज़ें यदि किसी के द्वारा ही निर्मित होती हैं तो फिर सम्पूर्ण जगत् जो रूप दिखाई देता है उस का भी उत्पादक कोई अवश्य ... ।

(२) सभी प्राणी अच्छे या बुरे कर्म करते हैं पर कोई ... फल नहीं चाहता और कर्म स्वयं जड़ होने से ... की प्रेरणा के बिना फल देने में असमर्थ हैं। ... को भी मानना चाहिये कि ईश्वर ही कर्मफल देता है।

... ऐसा व्यक्ति होना चाहिये कि जो सदा ... मुक्त जीवों की अपेक्षा भी जिस में कुछ ... कर्मवाद का यह मानना ठीक नहीं कि ... पर सभी जीव मुक्त ... हो जाते हैं।

आक्षेप का ... किसी ... पना—यह सदा ... में ... रते हैं। ... कि

कर्मवाद में होने वाले आक्षेपों का प्रत्युत्तर प्रथम कर्म ग्रन्थ की प्रस्तावना में इस प्रकार से वर्णन किया गया है जैसे कि—

कर्मवाद पर होनेवाले आक्षेप

और

उन का समाधान

ईश्वर को कर्ता या प्रेरक मानने वाले कर्मवाद पर नीचे लिखे तीन आक्षेप करते हैं:—

(१) घड़ी मकान आदि छोटी-मोटी चीजें यदि किसी व्यक्ति के द्वारा ही निर्मित होती हैं तो फिर सम्पूर्ण जगत् जो कार्य रूप दिखाई देता है उस का भी उत्पादक कोई अवश्य होना चाहिये।

(२) सभी प्राणी अच्छे या बुरे कर्म करते हैं पर कोई बुरे कर्म का फल नहीं चाहता और कर्म स्वयं जड़ होने से किसी चेतन की प्रेरणा के बिना फल देने में असमर्थ हैं। इसलिये कर्मवादियों को भी मानना चाहिये कि ईश्वर ही प्राणियों को कर्मफल देता है।

(३) ईश्वर एक ऐसा व्यक्ति होना चाहिये कि जो सदा से मुक्त हो और मुक्त जीवों की अपेक्षा भी जिस में कुछ विशेषता हो इसलिये कर्मवाद का यह मानना ठीक नहीं कि कर्म से छूट जाने पर सभी जीव मुक्त अर्थात् ईश्वर हो जाते हैं।

√(१) पहले आक्षेप का समाधान—यह जगत् किसी समय नया नहीं बना—यह सदा ही से है। हाँ, इस में परिवर्तन हुआ करते हैं। अनेक परिवर्तन ऐसे होते हैं कि

फल मिलने से रुक नहीं सकता। सामग्री इकट्ठी होगई फिर कार्य आप ही आप होने लगता है। उदाहरणार्थ—एक मनुष्य धूप में खड़ा है, गर्म चीज खाता है और चाहता है कि प्यास न लगे तो क्या किसी तरह प्यास रुक सकती है? ईश्वर-कर्तृत्ववादी कहते हैं कि ईश्वर की इच्छा से प्रेरित होकर कर्म अपना अपना फल प्राणियों पर प्रकट करते हैं। इस पर कर्मवादी कहते हैं कि कर्म करने के समय परिणामानुसार जीव में ऐसे संस्कार पड़ जाते हैं कि जिनसे प्रेरित होकर कर्त्ता जीव कर्म के फल को आप ही भोगते हैं और कर्म उन पर अपने फल को आप ही प्रकट करते हैं।

(३) तीसरे आक्षेप का समाधान—ईश्वर चेतन है और जीव भी चेतन, फिर उन में अन्तर ही क्या है? हाँ, अन्तर इतना ही सकता है कि जीव की सभी शक्तियाँ आवरणों से घिरी हुई हैं और ईश्वर की नहीं। पर जिस समय जीव अपने आवरणों को हटा देता है उस समय तो उसकी सभी शक्तियाँ पूर्णरूप में प्रकाशित हो जाती हैं फिर जीव और ईश्वर में विषमता किस बात की? विषमता का कारण जो औपाधिक कर्म है, उसके हट जाने पर भी यदि विषमता बनी रही तो फिर मुक्ति ही क्या है? विषमता का राज्य संसार तक ही परिमित है आगे नहीं। इस लिये कर्मवाद के अनुसार यह मानने में कोई आपत्ति नहीं कि—सभी मुक्त जीव ईश्वर ही हैं। केवल विश्वास के बल पर यह कहना कि ईश्वर एक ही होना चाहिये उचित नहीं। सभी आत्मा तात्त्विक दृष्टि से ईश्वर ही हैं। केवल बन्धन के कारण ये छोटे मोटे जीव रूप में देखे

तृतीय पाठ

(कर्मवाद)

आत्मा एक चेतन पदार्थ है, अनंत शक्तियों का समूह है, सबका उपास्य है और प्राणिमात्र का रक्षक है किन्तु कर्मों की उपाधि से युक्त होकर और निज स्वरूप को भूलकर नाना प्रकार के सांसारिक सुख या दुःखों का अनुभव कर रहा है किन्तु धर्मयुक्त शुभ कर्म मोक्ष पद की प्राप्ति के लिये सहायक बनता है और पाप कर्म मोक्ष पद की प्राप्ति में बहुत से विघ्न उपस्थित करता है अतः धर्मयुक्त शुभ कर्म व्यवहार पक्ष में हेय होने पर भी किसी नय के मत से उपादेय रूप है। जिस प्रकार नद में नाव हेय रूप न होकर उपादेय रूप होती है ठीक उसी प्रकार धर्म युक्त शुभ कर्म भी किसी नय के मत से उपादेय रूप माना जाता है। जैसे कि मनुष्यत्व भाव मोक्षाधिकारी माना गया है न तु पशुत्वादि सो व्यवहार पक्ष में भी कर्म सिद्धान्त स्वीकार करना योग्यता का आदर्श है। कर्म ग्रंथ की प्रस्तावना में लिखा है—

व्यवहार और परमार्थ में कर्मवाद की उपयोगिता।

इस लोक से या परलोक से सम्बन्ध रखने वाले किसी काम में जब मनुष्य प्रवृत्ति करता है तब यह तो असंभव ही है कि उसे किसी न किसी विघ्न का सामना करना न पड़े। सब काम में सबको थोड़े बहुत प्रमाण में शारीरिक या मान-

मनुष्य को किसी भी काम की सफलता के लिये परिपूर्ण हार्दिक शांति प्राप्त करनी चाहिए जो एक मात्र कर्म के सिद्धान्त ही से हो सकती है। आंधी और तूफान में जैसे हिमालय का शिखर स्थिर रहता है वैसे ही अनेक प्रतिकूलताओं के समय शान्त भाव में स्थिर रहना यही सच्चा मनुष्यत्व है, जो कि भूतकाल के अनुभवों से शिक्षा देकर मनुष्य को अपनी भावी भलाई के लिये तैयार करता है। परन्तु यह निश्चित है कि ऐसा मनुष्यत्व कर्म के सिद्धान्त पर विश्वास किये बिना कभी आ नहीं सकता। इससे यही कहना पड़ता है कि क्या व्यवहार क्या परमार्थ सब जगह कर्म का सिद्धान्त एक-सा उपयोगी है। कर्म सिद्धान्त की श्रेष्ठता के सम्बन्ध में डा० मैक्समूलर का जो विचार है वह जानने योग्य है। वे कहते हैं— यह तो निश्चित है कि कर्म मत का असर मनुष्य जीवन पर बेहद हुआ है। यदि किसी मनुष्य को यह मालूम पड़े कि वर्त्तमान अपराध के सिवाय भी मुझको जो कुछ भोगना पड़ता है, वह मेरे पूर्व जन्म के कर्म का ही फल है तो वह पुराने कर्ज़ के चुकाने वाले मनुष्य की तरह शान्त भाव से उस कष्ट को सहन कर लेगा। यदि वह मनुष्य इतना भी जानता हो कि सहन शीलता से पुराना कर्ज़ा चुकाया जा सकता है तथा उसी से भविष्यत् के लिये नीति की समृद्धि इकट्ठी की जा सकती है तो उसको भलाई के रास्ते पर चलने की प्रेरणा आप ही आप होगी। भला या बुरा कोई भी कर्म नष्ट नहीं होता यह नीति शास्त्र का मत और पदार्थ शास्त्र का बल संरक्षण सम्बन्धी मत समान ही है। दोनों मतों का आशय इतना ही है कि किसी का नाश नहीं होता किसी भी नीति

शिक्षा के अस्तित्व के सम्बन्ध में कितनी ही शङ्काएँ क्यों न हों पर यह निर्विवाद सिद्ध है कि कर्म मत सब से अधिक जगह माना गया है. उससे लाखों मनुष्यों के कष्ट कम हुए हैं और उसी मत से मनुष्यों को वर्तमान संकट झेलने की शक्ति पैदा करने तथा भविष्यत् जीवन को सुधारने में उत्तेजन मिला है। इस कथन से यह स्वतः ही सिद्ध हो जाता है कि कर्म सिद्धान्त का मानना युक्तियुक्त है। आत्मवाद के मानने वाले व्यक्तियों को कर्मवाद अवश्य ही मानना पड़ता है कारण कि कर्मवाद को स्वीकार किये बिना आत्मा का संसारचक्र में परिभ्रमण करना सिद्ध हो ही नहीं सकता। कर्मों से ही शरीर रचना तथा इन्द्रियादि का उत्पन्न होना सिद्ध होता है। जिस प्रकार एक दाड़िम (अनार) के फल में क्या ही सुन्दर दाने चुने हुए होते हैं उसी प्रकार प्रत्येक आत्मा के शरीरादि की रचना सुन्दर या असुन्दर उसके कर्मों के अनुसार ही होती है।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि दाड़िम के फल में दाने कौन लगातार लगाता है ? और उनमें नाना प्रकार के रसों की रचना कौन करता है ? तथा मयूर के पंखों का चित्रित कौन करता है ? इस प्रश्न के समाधान में कहा जाता है कि दाड़िम फल में रहने वाले बीज के जीवों या मयूर के जीव का जिस प्रकार नाम कर्म बंधन किया हुआ होता है ठीक उसी प्रकार उनके शरीरों की सुन्दर या असुन्दर रचना हो जाती है। ये सब बातें कर्म सिद्धान्त के अध्ययन करने से भली भाँति जानी जा सकती हैं।

प्रथम कर्म ग्रंथ की प्रस्तावना में लिखा है कि—

कर्म शास्त्र में शरीर, भाषा, इन्द्रिय आदि पर विचार।

शरीर जिन तत्वों से बनता है वे तत्त्व, शरीर के सूक्ष्म स्थूल आदि प्रकार, उसकी रचना, उसका वृद्धि क्रम ह्रास क्रम आदि अनेक अंशों को लेकर शरीर का विचार शरीर शास्त्र में किया जाता है, इसी से उस शास्त्र का वास्तविक गौरव है। वह गौरव कर्म-शास्त्र को भी प्राप्त है। क्योंकि उसमें भी प्रसंगवश ऐसी अनेक बातों का वर्णन किया गया है जो कि शरीर से सम्बन्ध रखती हैं। शरीर सम्बन्धिनी ये बातें पुरातन पद्धति से कही हुई हैं सही परन्तु इस से उनका महत्त्व कम नहीं। क्योंकि सभी वर्णन सदा नये नहीं रहते। आज जो विषय नया दिखाई देता है वह थोड़े दिनों के बाद पुराना हो जायगा। वस्तुतः काल के बीतने से किसी में पुरानापन नहीं आता। पुरानापन आता है उसका विचार न करने से। सामयिक पद्धति से विचार करने पर पुरातन शोधों में भी नवीनता सी आ जाती है, इसलिये अति पुरातन कर्म शास्त्र में भी शरीर की बनावट, उसके प्रकार, उसकी मजबूती और उसके कारण भूत तत्त्वों पर जो कुछ थोड़े बहुत विचार पाये जाते हैं, वे उस शास्त्र की यथार्थ महत्ता के चिह्न हैं।

इसी प्रकार कर्म शास्त्र में भाषा के सम्बन्ध में तथा इन्द्रियों के सम्बन्ध में भी मनोरंजक व विचारणीय चर्चा मिलती है। भाषा किस तत्त्व से बनती है? उसके बनने में कितना समय लगता है? उसकी रचना के लिये अपनी वीर्य शक्ति का प्रयोग आत्मा किस तरह और किस साधन द्वारा करता है? भाषा की सत्यता तथा असत्यता का आधार क्या है? कौन कौन प्राणी भाषा बोल सकते हैं? किस किस जाति के प्राणी में किस किस प्रकार की भाषा बोलने की शक्ति है? इत्यादि अनेक

प्रश्न भाषा से सम्बन्ध रखते हैं। उनका महत्वपूर्ण व गंभीर विचार कर्मशास्त्र में विशद रीति से किया हुआ मिलता है।

इसी प्रकार इन्द्रियाँ कितनी हैं? कैसी हैं? उनके कैसे कैसे भेद तथा कैसी कैसी शक्तियाँ हैं? किस किस प्राणी को कितनी कितनी इन्द्रियाँ प्राप्त हैं? बाह्य और आभ्यन्तरिक इन्द्रियों का आपस में क्या सम्बन्ध है? कैसा आकार है? इत्यादि अनेक प्रकार का इंद्रियों से सम्बन्ध रखने वाला विचार कर्मशास्त्र में पाया जाता है, इत्यादि।

उक्त कथन से शारीरिक रचना सर्व कर्मों के कारण से ही बनती है। कारण कि कर्म के होने से ही आत्मा सांसारिक कहलाता है। क्योंकि जो आत्मायें कर्मबन्धन से विमुक्त हो गए हैं वे अशरीरी, सिद्ध, बुद्ध, अजर अमर, पारंगत या परम्परागत इत्यादि नामों से कहे जाते हैं। इतना ही नहीं, किन्तु वे जगत् उपास्य हैं।

अतः कर्मों से छूटने के लिये प्रयत्नशील बनना चाहिए जिससे आत्मदर्शी बनने का सौभाग्य प्राप्त होसके। कर्म विषय का ज्ञान भली भाँति करना चाहिए क्योंकि कर्म सिद्धान्त प्रायः दर्पण के तुल्य है। जिस प्रकार दर्पण पर निजवदन की आकृति यथावत् पड़ती है ठीक इसी प्रकार जो कर्म किया जाता है उस का फल उसी रूप में जीव को अनुभव करना पड़ता है। अतः कर्म क्षय का फल मोक्ष है न तु कर्म फल का नाम मोक्ष।

चतुर्थ पाठ

(कर्मवाद)

जब आत्मा कर्मों से सर्वथा विमुक्त हो जाता है तब वह स्वकीय आनन्द का अनुभव करने वाला होता है। जिस प्रकार मदिरा शुद्ध चेतना पर आवरण किए हुए होती है ठीक उसी प्रकार मोहनीय कर्म द्वारा आत्मिक सुखों पर आवरण होरहा है। अब इस स्थान पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या कर्म सिद्धान्त का अध्यात्मवाद पर भी प्रभाव पड़ता है ? इस प्रश्न के समाधान में कहा जाता है कि हाँ, अवश्य पड़ता है। वास्तव में कर्मों के ही आवरण ने आत्मिक निजानन्द को ढाँपा हुआ है। जैसे कि—कर्मग्रंथ की प्रस्तावना में लिखा है कि—

कर्म शास्त्र का अध्यात्मशास्त्रपन।

अध्यात्म शास्त्र का उद्देश्य आत्मा सम्बन्धी विषयों पर विचार करना है। अतएव उसको आत्मा के पारमार्थिक स्वरूप का निरूपण करने के पहले उसके व्यावहारिक स्वरूप का भी कथन करना पड़ता है। ऐसा न करने से यह प्रश्न सहज ही में उठता है कि मनुष्य, पशु, पक्षी, सुखी, दुःखी आदि आत्मा की दृश्यमान अवस्थाओं का स्वरूप ठीक ठीक जाने विना उसके पार का स्वरूप जानने की योग्यता दृष्टि को कैसे प्राप्त हो सकती है ? इसके सिवाय यह भी प्रश्न होता है कि दृश्य-

अंश मात्र है। कर्म का आवरण हट जाने से चेतना परिपूर्ण रूप में प्रकट होती है, उसी को ईश्वर भाव या ईश्वरत्व की प्राप्ति समझना चाहिये।

धन, शरीर आदि बाह्यविभूतियों में आत्मबुद्धि करना अर्थात् जड़ में ममता करना बाह्यदृष्टि है। इस अभेद-भ्रम को बहिरात्मभाव सिद्ध करके उसे छोड़ने की शिक्षा कर्म शास्त्र देता है। जिनके संस्कार केवल बहिरात्मभावमय हो गए हैं। उन्हें कर्म शास्त्र का उपदेश भले ही रुचिकर न हो परन्तु इससे उसकी सचाई में कुछ भी अन्तर नहीं पड़ सकता। शरीर और आत्मा के अभेद-भ्रम को दूर कराकर उसके भेद ज्ञान को विवेक ख्याति को कर्म शास्त्र प्रकटाता है। इसी समय से अन्तर्दृष्टि खुलती है। अन्तर्दृष्टि के द्वारा अपने में वर्तमान परमात्मभाव देखा जाता है। परमात्म-भाव को देखकर उसे पूर्णतया अनुभव में लाना—यह जीव का शिव (ब्रह्म) होना है। इसी ब्रह्मभाव को व्यक्त कराने का काम कुछ और ढंग से ही कर्मशास्त्र ने अपने ऊपर ले रक्खा है, क्योंकि वह आत्मा को अभेद भ्रम से भेद ज्ञान की तरफ झुकाकर फिर स्वाभाविक अभेद ज्ञान की उच्च भूमिका की ओर खींचता है। बस, उसका कर्तव्य क्षेत्र उतना ही है। साथ ही योग शास्त्र के मुख्य प्रतिपाद्य अंश का वर्णन भी इसमें मिल जाता है। इसलिये, यह स्पष्ट है कि कर्मशास्त्र अनेक प्रकार के आध्यात्मिक शास्त्रीय विचारों की खान है। यही उसका महत्त्व है।

बहुत लोगों को प्रकृतियों की गिनती, संख्या की बहुलता आदि से उस पर रुचि नहीं होती। परन्तु इस में कर्म शास्त्र का क्या दोष ? गणित, पदार्थ विज्ञान आदि गूढ़ व

पञ्चम पाठ

(कर्मवाद)

आत्मा के अस्तित्व होने पर ही कर्मवाद का अस्तित्व माना जा सकता है क्योंकि जब आत्मा का ही अभाव हो तब कर्म का सद्भाव किस प्रकार माना जा सकता है। जैसे कि-वृक्ष के अभाव होने पर शाखा प्रतिशाखा या पत्रादि का अभाव स्वयं ही हो जाता है ठीक उसी प्रकार आत्मा के अभाव मानने पर कर्मों का असद्भाव स्वयमेव सिद्ध होता है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि आत्मा का अस्तित्व किन किन प्रमाणों से सिद्ध है? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि प्रथम कर्म ग्रंथ की प्रस्तावना में इस प्रश्न का समाधान इस प्रकार से किया गया है। जैसे कि—

आत्मा स्वतंत्र तत्त्व है।

कर्म के सम्बन्ध में ऊपर जो कुछ कहा गया है उसकी ठीक ठीक संगति तभी हो सकती है जब कि आत्मा को जड़ से अलग तत्त्व माना जाए। आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व नीचे लिखे सात प्रमाणों से माना जा सकता है—

(१) स्वसंवेदनरूप साधक प्रमाण (२) बाधक प्रमाण का अभाव (३) निषेध से निषेध कर्ता की सिद्धि (४) तर्क (५) शास्त्र व महात्माओं का प्रमाण (६) आधुनिक विद्वानों की सम्मति और (७) जन्म।

(१) स्वसंवेदन रूप साधक प्रमाण।

यद्यपि सभी देहधारी अज्ञान के आवरण से न्यूनाधिक रूप में घिरे हुए हैं और इससे वे अपने ही अस्तित्व का संदेह करते हैं तथापि जिस समय उनकी बुद्धि थोड़ी सी भी स्थिर हो जाती है उस समय उनको यह स्फुरणा होती है कि 'मैं हूं'। यह स्फुरणा कभी नहीं होती कि 'मैं नहीं हूं'। इससे उलटा यह भी निश्चय होता है कि 'मैं नहीं हूँ' यह बात नहीं। इसी बात को श्रीशंकराचार्य ने भी कहा है:—

सर्वो ह्यात्माऽस्ति त्वं प्रत्येति न नाहमस्मीति
(ब्रह्म० भाष्य० १।१।१)

उसी निश्चय को ही स्वसंवेदन (आत्मनिश्चय) कहते हैं।

(२) बाधक प्रमाण का अभाव।

ऐसा कोई प्रमाण नहीं है जो आत्मा के अस्तित्व का बाध (निषेध) करता हो। इस पर यद्यपि यह शंका हो सकती है कि मन और इन्द्रियों के द्वारा आत्मा का ग्रहण न होना ही उसका बाध है। परंतु इसका समाधान सहज है। किसी विषय का बाधक प्रमाण वही माना जाता है जो उस विषय को जानने की शक्ति रखता हो और अन्य सब सामग्री मौजूद होने पर उसे ग्रहण कर न सके। उदाहरणार्थ—आँख मिट्टी के घड़े को देख सकती है पर जिस समय प्रकाश, समीपता आदि सामग्री रहने पर भी वह मिट्टी के घड़े को न देखे उस समय उसे उस विषय का बाधक समझना चाहिए। इन्द्रियाँ सभी भौतिक हैं, उनकी ग्रहण शक्ति बहुत परिमित है, वे भौतिक पदार्थों में से भी स्थूल निकटवर्ती और नियत विषयों को ही ऊपर ऊपर से जान सकती हैं। सूक्ष्म दर्शक यंत्र आदि

साधनों की भी यही दशा है, वे अभी तक भौतिक प्रदेशों में ही कार्यकारी सिद्ध हुए हैं, इसलिये उनका अभौतिक—अमूर्त आत्मा को जान न सकना बाध नहीं कहा जा सकता।' मन भौतिक होने पर भी इन्द्रियों की अपेक्षा अधिक सामर्थ्यवान् है सही पर जब यह इंद्रियों का दास बन जाता है—एक के पीछे एक इस तरह अनेक विषयों में बंदर के समान दौड़ लगाता फिरता है तब उसमें राजस व तामस वृत्तियाँ पैदा होती हैं सात्त्विक भाव प्रकट होने नहीं पाता। यही बात गीता में भी कही है:—

> इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
> तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाऽम्भसि ॥
>
> (अ० २ श्लोक ६७)

इसलिये चंचल मन में आत्मा की स्फुरणा भी नहीं होती। यह देखी हुई बात है कि प्रतिबिम्ब ग्रहण करने की शक्ति जिस दर्पण में वर्तमान है वह भी जब मलिन हो जाता है तब उस में किसी वस्तु का प्रतिबिम्ब स्पष्ट नहीं होता। इससे यह बात सिद्ध है कि बाहरी विषयों में दौड़ लगाने वाले अस्थिर मन से आत्मा का ग्रहण न होना उसका बाध नहीं है किन्तु मन की अशक्ति मात्र है।

इस प्रकार विचार करने से यह सिद्ध होता है कि मन, इन्द्रियाँ, स्थूल दर्शक यंत्र आदि सभी साधन भौतिक होने से आत्मा का निषेध करने की शक्ति नहीं रखते।

(४) निषेध से निषेध कर्ता की सिद्धि।

कुछ लोग यह कहते हैं कि हमें आत्मा का निश्चय नहीं होता, बल्कि कभी कभी उसके अभाव की स्फुरणा हो जाती

इस प्रतिकूल तर्क का निवारण अशक्य नहीं है। यह देखा जाता है कि किसी वस्तु में जब एक शक्ति का प्रादुर्भाव होता है तब उस में दूसरी विरोधिनी शक्ति का तिरोभाव हो जाता है। परन्तु जो शक्ति तिरोहित हो जाती है वह सदा के लिये नहीं, किसी समय अनुकूल निमित्त मिलने पर फिर भी उस का प्रादुर्भाव हो जाता है। इसी प्रकार जो शक्ति प्रादुर्भूत हुई होती है वह सदा के लिये नहीं, प्रतिकूल निमित्त मिलते ही उसका तिरोभाव हो जाता है। उदाहरणार्थ—पानी के अणुओं को लीजिये। वे गरमी पाते ही भापरूप में परिणत हो जाते हैं। फिर शैत्य आदि निमित्त मिलते ही पानीरूप में बरसते हैं। अधिक शीतत्व होने पर द्रव्यत्वरूप को छोड़ बर्फरूप में घनत्व को प्राप्त कर लेते हैं।

इसी तरह यदि जड़त्व, चेतनत्व-इन दोनों शक्तियों को किसी एक मूल तत्त्वगत मान लें तो विकासवाद ठहर ही न सकेगा। क्योंकि चेतनत्व शक्ति के विकास के कारण जो आज चेतन (प्राणी) समझे जाते हैं वे ही सब जड़त्व शक्ति का विकास होने पर फिर जड़ हो जायंगे। जो पाषाण आदि पदार्थ आज जड़रूप में दिखाई देते हैं वे कभी चेतन हो जायंगे और चेतन रूप से दिखाई देने वाले मनुष्य, पशु, पक्षी आदि प्राणी कभी जड़रूप भी हो जायेंगे। अतएव एक पदार्थ में जड़त्व चेतनत्व-इन दोनों विरोधिनी शक्तियों को न मानकर जड़ चेतन दो स्वतंत्र तत्त्वों को ही मानना ठीक है।

(२) शास्त्र व महात्माओं का प्रामाण्य।

अनेक पुरातन शास्त्र भी आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व का प्रतिपादन करते हैं। जिन शास्त्रकारों ने बड़ी शांति व गंभीरता

को जड़ नहीं समझते किन्तु उसे ज्ञान के आविर्भाव का साधनमात्र समझते हैं।*

डा० जगदीश बोस, जिन्होंने सारे वैज्ञानिक संसार में नाम पाया है, उन की खोज से यहां तक निश्चय हो गया है कि वनस्पतियों में भी स्मरणशक्ति विद्यमान है। बोस महाशय ने अपने आविष्कारों से स्वतन्त्र आत्म-तत्त्व मानने के लिये वैज्ञानिक संसार को मजबूर किया है।

(७) पुनर्जन्म।

नीचे लिखे अनेक प्रश्न ऐसे हैं कि जिनका पूरा समाधान पुनर्जन्म के माने बिना नहीं हो सकता। गर्भ के आरम्भ से लेकर जन्म तक बालक को जो जो कष्ट भोगने पड़ते हैं वे सब उस बालक की कृति के परिणाम हैं या उस के माता पिता की कृति के? उन्हें बालक की उस जन्म की कृति का परिणाम नहीं कह सकते, क्योंकि उसने गर्भावस्था में तो अच्छा या बुरा कुछ भी काम नहीं किया है। यदि माता पिता अच्छा या बुरा जो कुछ भी करें तो उसका परिणाम बिना कारण बालक को क्यों भोगना पड़े? बालक को जो कुछ सुख दुःख भोगना पड़ता है, वह यों ही बिना कारण भोगना पड़ता है—यह मानना तो अज्ञान की पराकाष्ठा है क्योंकि बिना कारण किसी कार्य का होना असम्भव है।

यदि यह कहा जाय कि माता पिता के आहार विहार का, विचार वर्तन का और शारीरिक मानसिक अवस्थाओं का

---

* [illegible] सन् १९११ [illegible] सन् १९११ [illegible] सन् १९११ के [illegible] "[illegible]" [illegible] प्रकाशित हुई है।

बड़े कुस्तीबाजों से भिड़ना है। एक दीर्घजीवी ता है और दूसरा सौ यत्न होने रहने पर भी अकाल में । का अतिथि बन जाता है। एक की इच्छा संयत होती है र दूसरे की असंयत।

जो शक्ति भगवान् महावीर, बुद्ध और शंकराचार्य में थी र उनके माता पिताओं में न थी। हेमचन्द्राचार्य की प्रतिभा कारण उनके माता पिता नहीं माने जा सकते, उनके गुरु । उनकी प्रतिभा के मुख्य कारण नहीं क्योंकि देवचन्द्र रि के हेमचन्द्र के अतिरिक्त और भी शिष्य थे फिर क्या ारण है कि दूसरे शिष्यों का नाम लोग जानते तक नहीं और मचन्द्राचार्य का नाम इतना प्रसिद्ध है ?

वर्त्तमान युग के नेता अहिंसाधर्म के प्रचारक प्रतिभा और दाचार से युक्त महात्मा गाँधी जी में जो आत्मिक शक्ति है वह उनके माता पिता में न थी, न उनके माता पिता उनकी आत्मिक शक्ति के कारण माने जा सकते हैं। श्रीमती एनी बिसेंट में जो विशिष्ट शक्ति देखी जाती है वह उनके माता पिताओं में न थी और न उनकी पुत्री में देखी गई है।

अच्छा, और भी कुछ आश्चर्यजनक उदाहरणों को सुनिए— प्रकाश की खोज करने वाले डा० यंग दो वर्ष की अवस्था में पुस्तक को बहुत अच्छी तरह बाँच सकते थे। चार वर्ष की अवस्था में वे दो बार बाइबिल पढ़ चुके थे। सात वर्ष की अवस्था में उन्होंने गणित शास्त्र पढ़ना आरंभ किया था और तेरह वर्ष की अवस्था में लैटिन, ग्रीक, हिब्रू, फ्रेंच, इटालियन आदि भाषाएँ सीख ली थीं। सर विलियम रोवन हेमिल्टन ने तीन वर्ष की अवस्था से हिब्रू भाषा को सीखना आरंभ किया और

सात वर्ष की अवस्था में उस भाषा में इतना नैपुण्य प्राप्त कर लिया कि डब्लिन के ट्रिनिटी कालेज के एक फेलो को स्वीकार करना पड़ा कि कालेज में फेलो पद के प्रार्थियों में भी उनके बराबर ज्ञान नहीं है। तेरह वर्ष की अवस्था में तो उन्होंने कम से कम तेरह भाषाओं पर पूर्ण अधिकार जमा लिया था। सन् १८६२ ई० में जन्मी हुई एक लड़की ने सन् १६०२ ई० में दश वर्ष की अवस्था में कई नाटक लिख लिए थे। उसकी माता के कथनानुसार वह पाच वर्ष की वय में कई छोटी मोटी कविताएँ बना लेती थी। उसकी लिखी हुई कुछ कविताएँ महारानी विक्टोरिया के पास भी पहुँची थीं। उस समय उस बालिका का अंग्रेजी ज्ञान भी आश्चर्यजनक था, वह कहती थी कि मैं अंग्रेजी पढ़ी नहीं हूँ परन्तु उसे जानती हूँ।

उक्त उदाहरणों पर ध्यान देने से यह स्पष्ट ज्ञात पड़ता है कि इस जन्म में देखी जाने वाली सब विलक्षणताएँ न तो वर्त्तमान जन्म की कृति के ही परिणाम हैं न केवल माता पिता के केवल संस्कार के और न केवल परिस्थिति के ही। इसलिये आत्मा के अस्तित्व की मर्यादा को गर्भ के आरंभ समय से और भी पूर्व मानना चाहिए। वही पूर्व जन्म है।

पूर्व जन्म में इच्छा या प्रवृत्ति द्वारा जो संस्कार संचित हुए हों उन्हीं के आधार पर उपर्युक्त शंकाओं का तथा विलक्षणताओं का सुसंगत समाधान हो जाता है। जिस युक्ति से एक पूर्वजन्म सिद्ध हुआ उसी के बल से अनेक पूर्वजन्म की परम्परा सिद्ध हो जाती है। क्योंकि अपरिमित ज्ञानशक्ति एक जन्म के अभ्यास का फल नहीं हो सकता। इस प्रकार आत्मा

देह से पृथक् अनादि सिद्ध होता है। अनादि तत्व का कभी नाश नहीं होता। इस सिद्धान्त को सभी दार्शनिक मानते हैं। गीता में भी कहा है कि—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
(अ० २ श्लो० १६)

इतना ही नहीं, बल्कि वर्तमान शरीर के पश्चात् आत्मा का अस्तित्व मान लिये बिना अनेक प्रश्न हल नहीं हो सकते।

बहुत लोग ऐसे देखे जाते हैं कि वे इस जन्म में तो धार्मिक जीवन बिताते हैं परन्तु रहते हैं दरिद्री। और बहुत ऐसे भी देखे जाते हैं कि जो न्याय, नीति और धर्म का नाम सुन कर चिढ़ते हैं परन्तु होते हैं वे सब तरह से सुखी। ऐसी अनेक व्यक्तियाँ मिल सकती हैं, जो हैं तो स्वयं दोषी और उनके दोषों (अपराधों) का फल भोग रहे हैं दूसरे। एक हत्या करता है और दूसरा पकड़ा जाकर फाँसी पर लटकाया जाता है। एक चोरी करता है और पकड़ा जाता है दूसरा।

यहाँ इस पर विचार करना चाहिए कि जिनको अपनी अच्छी या बुरी कृति का बदला इस जन्म में नहीं मिला, उनकी कृति क्या यों ही विफल हो जाएगी? यह कहना कि कृति विफल होती है, ठीक नहीं। यदि कर्त्ता को फल नहीं मिला, तो भी उसका असर समाज के या देश के अन्य लोगों पर होता ही है, यह भी ठीक नहीं। क्योंकि मनुष्य जो कुछ करता है वह सब दूसरों के लिये ही नहीं। रात दिन परोपकार करने में निरत महात्माओं की भी इच्छा दूसरों की भलाई करने के निमित्त से अपना परमात्मत्व प्रकट करने की ही रहती है।

बिना सन्तोष नहीं होता कि चेतन एक स्वतन्त्र तत्त्व है। वह ज्ञान से या अज्ञान से जो अच्छा बुरा कर्म करता है उसका फल उसे भोगना ही पड़ता है और इसीलिये उसे पुनर्जन्म के चक्कर में घूमना पड़ता है। पुनर्जन्म को बुद्ध भगवान् ने भी माना है। पक्का निरीश्वरवादी जर्मन पण्डित निटशे कर्मचक्रकृत पुनर्जन्म को मानता है। यह पुनर्जन्म का स्वीकार आत्मा के अस्तित्व को मानने के लिये प्रबल प्रमाण है। इस प्रकार आत्मा के अस्तित्व मानने पर ही संसारचक्र में भ्रमण या उससे निवृत्ति (निर्वाण पद) की प्राप्ति मानी जा सकती है। कारण कि कर्म से संसार और अकर्म से मोक्षपद की प्राप्ति होती है।

इस स्थान पर अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब सब आस्तिकवादी कर्मों को मानते हैं तो फिर जैनदर्शन में कर्मों के मानने की क्या विशेषता है? इस प्रश्न के उत्तर में प्रथम कर्म ग्रंथ की प्रस्तावना में लिखा है कि—

कर्म तत्त्व के विषय में जैन दर्शन की विशेषता।

जैन दर्शन में प्रत्येक कर्म की बध्यमान, सत् और उदयमान ये तीन अवस्थायें मानी हुई हैं। उन्हें क्रमशः बन्ध, सत्ता और उदय कहते हैं। जैनेतर दर्शनों में भी कर्म की इन अवस्थाओं का वर्णन है। उनमें बध्यमान कर्म को 'क्रियमाण' सत्कर्म को 'सञ्चित' और उदयमान को 'प्रारब्ध' कहा है। किन्तु जैन शास्त्र में ज्ञानावरणीय आदि रूप से कर्म का ८ तथा १४८ भेदों में वर्गीकरण किया है, और इसके द्वारा संसारी आत्मा की अनुभव सिद्ध भिन्न भिन्न अवस्थाओं का जैसा विशद विवेचन किया गया है वैसा किसी भी जैनेतर दर्शन में नहीं है।

[illegible] शक्ति, आयु और भोग ये तीन तरह [illegible] बतलाए हैं। परन्तु जैन दर्शन में कर्म के सम्बन्ध में [illegible] यह वर्णन मात्र मात्र का है।

[illegible] कर्म का बन्ध कैसे होता है? किन किन [illegible] कारण से कर्म में कैसी शक्ति पैदा होती है? [illegible] अधिक और कम से कम कितने [illegible] रह सकता है। आत्मा के साथ [illegible] विपाक देने में असमर्थ [illegible] बदला जा सकता है या नहीं? [illegible] लिये कैसा आत्मपरिणाम [illegible] अन्य कर्म रूप कब बन सकता है? [illegible] शक्तियाँ किस प्रकार बदली जा [illegible] वाला कर्म पहले ही कब और [illegible] कितना भी बलवान् कर्म [illegible] आत्मिक परिणामों से कैसे [illegible] आत्मा के शक्ति प्रगट करने [illegible] नहीं छूटता? आत्मा किस तरह कर्म [illegible] और भोक्ता है? इतना होने पर भी वास्तव [illegible] आत्मा में कर्म का कर्तृत्व और भोक्तृत्व किस प्रकार नहीं है? [illegible] परिणाम अपनी आकर्षण शक्ति से आत्मा पर एक प्रकार की सूक्ष्म रज का पटल किस तरह डाल देते हैं? आत्मा वीर्य शक्ति के आविर्भाव के द्वारा इस सूक्ष्म रज के पटल को किस तरह उठा फेंक देता है? स्वभावतः शुद्ध आत्मा भी कर्म के प्रभाव से किस किस प्रकार मलिन सा दीखता है? और बाह्य हजारों आवरणों के होने पर भी आत्मा

अपने शुद्ध स्वरूप से किस तरह च्युत नहीं होता? वह अपनी सामर्थ्य के समय पूर्वबद्ध तीव्र कर्मों को किस तरह हटा देता है? वह अपने में वर्तमान परमात्म भाव को देखने के लिये जिस समय उत्सुक होता है उस समय उसके और अन्तरायभूत कर्म के बीच कैसा द्वन्द्व युद्ध होता है? अन्त में वीर्यवान् आत्मा किस प्रकार के परिणामों से बलवान् कर्मों को कमजोर करके अपने प्रगति-मार्ग को निष्कंटक करता है? आत्म मन्दिर में वर्तमान परमात्मदेव का साक्षात्कार कराने में सहायक परिणाम जिन्हें 'अपूर्वकरण' तथा 'अनिवृत्तिकरण' कहते हैं, उनका क्या स्वरूप है? जीव अपनी शुद्ध परिणाम तरंगमाला के वैद्युतिक-यन्त्र से कर्म के पहाड़ों को किस कदर चूर चूर कर डालता है? कभी कभी गुलांट खा कर कर्म ही, जो कि कुछ देर के लिये दबे होते हैं, प्रगतिशील आत्मा को किस तरह नीचे पटक देते हैं? कौन कौन कर्म बन्ध व उदय की अपेक्षा आपस में विरोधी हैं? किस कर्म का बन्ध किस अवस्था में अवश्यम्भावी और किस अवस्था में अनियत है? किस कर्म का विपाक किस हालत तक नियत और किस हालत में अनियत है? आत्म सम्बन्ध अतीन्द्रिय कर्म रज किस प्रकार की आकर्षण-शक्ति से स्थूल पुद्गलों को खींचा करती है और उनके द्वारा शरीर, मन, सूक्ष्म शरीर आदि का निर्माण किया करती है? इत्यादि संख्यातीत प्रश्न जो कर्म से सम्बन्ध रखते हैं, उनका सयुक्तिक विस्तृत व विशद विवेचन जैन साहित्य के सिवाय अन्य किसी भी दर्शन के साहित्य से नहीं किया जा सकता। यही कर्मतत्त्व के विषय में जैन दर्शन की विशेषता है।

पाठक जनों को यह भली भाँति विदित हो गया होगा कि जिस प्रकार आत्मवाद और कर्मवाद का सविस्तर वर्णन जैन साहित्य में मिलता है उस प्रकार किसी भी जैनेतर दर्शन में उन विषयों का स्पष्ट रूप से वर्णन नहीं किया गया।

बहुत से लोग इस प्रकार से कहा करते हैं कि जिस प्रकार से कर्म किये जाते हैं ठीक उसी प्रकार उनका फल भी भोगने में आता है सो यह भी तब तक ही कथन किया जाता है, जब तक प्रकृति स्थिति, अनुभाग प्रदेश इत्यादि कर्मों के भेदों का अध्ययन नहीं किया गया। कारण कि कर्मों का बन्ध आत्मा के राग द्वेष के भावों पर ही अवलम्बित है, अर्थात् जिस प्रकार के तीव्र व मंद भाव होते हैं उस प्रकार से बन्ध या संक्रमण कर्म प्रकृतियों का हो जाता है।

अतः जिस प्रकार से कर्म किये गये हैं उस प्रकार से भी भोगे जा सकते हैं अन्य प्रकार से भी भोगे जा सकते हैं। कारण कि आत्मा के भावों द्वारा ही कर्मों की प्रकृतियों का बन्ध व संक्रमण माना गया है जैसे कि—१ शुभ कर्मों का शुभ विपाक २ शुभ कर्मों का अशुभ विपाक ३ अशुभ कर्मों का शुभ विपाक ४ अशुभ कर्मों का अशुभ विपाक। इस चतुर्भंगी में इस बात पर प्रकाश डाला गया है कि कर्म आत्मा के भावों पर ही निर्भर रहते हैं जैसे कि पहले और चतुर्थ भंग में तो कोई विवाद ही नहीं है। किन्तु जो द्वितीय और तृतीय भंग हैं, वे अवश्य विचारणीय हैं। जैसे कि—२ शुभ कर्मों का अशुभ विपाक और ३ अशुभ कर्मों का शुभ विपाक। इन दोनों भंगों के कथन करने का सारांश इतना ही है कि दानादि शुभ कर्म करके फिर पश्चात्तापादि करने लग जाना—इत्यादि क्रियाओं

द्वारा जिस तरह शुभ कर्मों का अशुभ विपाक हो जाता है ठीक उसी प्रकार हिंसादि अशुभ क्रिया कर के फिर अन्तःकरण से पश्चात्तापादि क्रियाओं द्वारा अशुभ कर्मों का शुभ विपाक अनुभव किया जाता है। क्योंकि कर्मों के कारण में मुख्यतया आत्मा के भाव ही लिये जाते हैं तथा उन भावों से कर्म से निवृत्ति और प्रवृत्ति देखी जाती है।

सम्बन्ध होता है। इसी को कर्म कहते हैं तथा कर्मों की ८ मूल प्रकृतियां और १४८ उत्तर प्रकृतियां हैं।

कर्म बंध चार प्रकार से वर्णन किया गया है। जैसे कि— १ प्रकृति बन्ध २ स्थिति बन्ध ३ अनुभाग बन्ध और ४ प्रदेश बन्ध। इन का स्वरूप निम्न प्रकार से पढ़िये।

१—प्रकृति बन्ध।

जीव के द्वारा ग्रहण किये हुए कर्म पुद्गलों में जुदे जुदे स्वभावों का अर्थात् शक्तियों का पैदा होना प्रकृति बन्ध कहलाता है।

२—स्थिति बन्ध।

जीव के द्वारा ग्रहण किये हुए कर्म पुद्गलों में अपने अपने काल तक अपने स्वभावों का त्याग न कर जीव के साथ रहने की काल मर्यादा का होना स्थिति बन्ध कहलाता है।

३—रस बन्ध।

जीव के द्वारा ग्रहण किये हुए कर्म-पुद्गलों में रस के तर तम भाव का अर्थात् फलरूप फल देने की न्यूनाधिक शक्ति का होना रस बन्ध कहलाता है।

४—प्रदेश बन्ध।

जीव के साथ न्यूनाधिक परमाणु वाले कर्म स्कन्धों का सम्बन्ध होना प्रदेश बन्ध कहलाता है।

अब इस स्थान पर प्रश्न यह उपस्थित होता है कि— १ प्रकृति बन्ध २ स्थिति बन्ध ३ रस बन्ध और ४ प्रदेश बन्ध— इन बन्धों को किस दृष्टान्त द्वारा पूर्णतया अधिगत करना चाहिये? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि मोदक के दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में प्रकृति आदि का स्वरूप यों सम-

कुछ लड्डुओं में मधुर रस अधिक रहता है, कुछ लड्डुओं में कम। कुछ लड्डुओं में कटु रस अधिक, कुछ लड्डुओं में कम। इस तरह मधुर, कटु, आदि रसों की न्यूनाधिकता देखी जाती है। इसी प्रकार कुछ कर्म दलों में शुभ रस अधिक कुछ कर्म दलों में कम, कुछ कर्म दलों में अशुभ रस अधिक, कुछ कर्म दलों में कम। इस तरह विविध प्रकार के अर्थात् तीव्र तीव्रतर, तीव्रतम, मन्द, मन्दतर, मन्दतम, शुभ अशुभ रसों का कर्म पुद्गलों में बन्धना अर्थात् उत्पन्न होना 'रसबन्ध' कहलाता है।

शुभ कर्मों का रस ईख, द्राक्षा आदि रस के सदृश मधुर होता है, जिसके अनुभव से जीव खुश होता है। अशुभ कर्मों का रस नींब आदि के रस के सदृश कडुवा होता है, जिस के अनुभव से जीव बुरी तरह घबड़ा उठता है। तीव्र, तीव्रतर आदि को समझने के लिये दृष्टांत के तौर पर ईख या नींब का चार सेर रस लिया जाय इस रस को स्वाभाविक रस कहना चाहिये। आँच के द्वारा औटा कर जब चार सेर की जगह तीन सेर रस बच जाय तो उसे तीव्र कहना चाहिये और औटा कर जब एक सेर बच जाय तो तीव्रतम कहना चाहिये। ईख या नींब का एक सेर स्वाभाविक रस लिया जाय, उस में एक सेर पानी मिलाने से मन्दरस बन जायगा। दो सेर पानी मिलाने से मन्दतर रस बनेगा। तीन सेर पानी मिलाने से मन्दतम रस बनेगा। कुछ लड्डुओं का परिमाण दो तोले का, कुछ लड्डुओं का छटांक का और कुछ लड्डुओं का परिमाण पाव भर का होता है। उसी प्रकार कुछ कर्म दलों में परमाणुओं की संख्या अधिक रहती है, कुछ कर्म दलों में कम। इस तरह भिन्न भिन्न

१ ज्ञानावरणीय—जो कर्म आत्मा के ज्ञान गुण को आच्छादित करे (ढाँपे), उसे ज्ञानावरणीय कहते हैं।

२ दर्शनावरणीय—जो कर्म आत्मा के दर्शन गुण को आच्छादित करे, वह दर्शनावरणीय कहा जाता है।

३ वेदनीय—जो कर्म आत्मा को सुख दुःख पहुँचावे, वह वेदनीय कहा गया है।

४ मोहनीय—जो कर्म स्व—पर विवेक में तथा स्वरूप रमण में बाधा पहुँचाता है, वह मोहनीय कहा जाता है।

५ आयु—जिस कर्म के अस्तित्व (रहने) से प्राणी जीता है तथा क्षय होने से मरता है, उसे आयु कहते हैं।

६ नाम—जिस कर्म के उदय से जीव नारक तिर्यञ्च आदि नामों से संबोधित होता है, अर्थात्—अमुक जीव नारक है, अमुक तिर्यञ्च है, अमुक मनुष्य है, अमुक देव है, इस प्रकार कहा जाता है, उसे नाम कर्म कहते हैं।

७ गोत्र—जो कर्म आत्मा को उच्च तथा नीच कुल में जन्मावे उसे गोत्र कहते हैं।

८ अन्तराय—जो कर्म आत्मा के वीर्य, दान, लाभ, भोग, और उपभोग रूप शक्तियों का घात करता है, वह अन्तराय कहा जाता है।

अब मूल प्रकृतियों के पश्चात् उत्तर प्रकृतियों का विषय कहते हैं। जैनागमतत्त्वदीपिका से उक्त प्रकृतियाँ अर्थयुक्त लिखी जाती हैं।

प्र०—ज्ञानावरणीय कितने प्रकार का है?

उ०—पांच प्रकार का। १ मतिज्ञानावरणीय, २ श्रुतज्ञानावरणीय, ३ अवधिज्ञानावरणीय, ४ मनःपर्यायज्ञानावरणीय, ५ केवलज्ञानावरणीय।

प्र०—प्रचलाप्रचला किसे कहते हैं ?

उ०—घोड़े की तरह चलते फिरते नींद आवे ऐसी निद्रा को।

प्र०—स्त्यानगृद्धि निद्रा किसे कहते हैं ?

उ०-दिन में सोचे हुए कार्य को नींद में ही कर डाले ऐसी निद्रा को।

प्र०—वेदनीय के कितने भेद हैं ?

उ०—दो। १ साता वेदनीय और २ असाता वेदनीय।

प्र०—साता वेदनीय किसे कहते हैं ?

उ०—जिससे साता (सांसारिक सुख) वेदा जाय (भोगा जाय)।

प्र०—असाता वेदनीय किसे कहते हैं ?

उ०—जिस के कारण से दुःख वेदा जाय (भोगा जाय)।

प्र०—मोहनीय के कितने भेद हैं ?

उ०-मुख्य दो भेद। १ दर्शन मोहनीय और २ चारित्र मोहनीय।

प्र०—दर्शन मोहनीय किसे कहते हैं ?

उ०—यथार्थ श्रद्धा को दर्शन कहते हैं, उस दर्शन को जो मोहित (विकृत) करे, उसे दर्शन मोहनीय कहते हैं।

प्र०—चारित्र मोहनीय किसे कहते हैं ?

उ०—जिस के द्वारा आत्मा के चारित्र गुण का घात हो।

प्र०—दर्शन मोहनीय के कितने भेद हैं ?

उ०—तीन। १ सम्यक्त्व मोहनीय २ मिश्र मोहनीय ३ मिथ्यात्व मोहनीय।

प्र०—सम्यक्त्व मोहनीय किसे कहते हैं ?

उ०—जिस प्रकार कूटे हुए कोद्रव धान्य के छिलकों में पूर्ण मादकशक्ति नहीं होती उसी प्रकार जिस कर्म के द्वारा सम्यक्त्व

रुचि नहीं होने पाती और असत्य रुचि भी नहीं होती। मिश्र मोहनीय का दूसरा नाम सम्यक् मिथ्यात्व मोहनीय है इन कर्म पुद्गलों में द्विस्थानक रस होता है।

(३) सर्वथा अशुद्ध कोदो के समान मिथ्यात्व मोहनीय है इस कर्म के उदय से जीव को हित में अहित बुद्धि और अहित में हित बुद्धि होती है अर्थात् हित को अहित समझता है और अहित को हित। इन कर्म पुद्गलों में चतुःस्थानक, त्रिस्थानक और द्विस्थानक रस होता है। ३ को चतुःस्थानक २ को त्रिस्थानक और १ को द्विस्थानक रस कहते हैं। जो रस सहज है अर्थात् स्वाभाविक है उसे एक स्थानक कहते हैं। इस विषय को समझने के लिये नींब का एक सेर रस लिया इसे एक स्थानक रस कहेंगे। नींब के इस स्वाभाविक रस को कटु और ईख के रस को मधुर कहना चाहिये। उक्त एक सेर रस को आग के द्वारा कढ़ाकर आधा जला दिया। बचे हुए आधे रस को द्विस्थानक रस कहते हैं। यह रस स्वाभाविक कटु और मधुर रस की अपेक्षा कटुकतर और मधुरतर कहा जायगा। एक सेर रस के दो हिस्से जला जायँ तो बचे हुए एक हिस्से को त्रिस्थानक रस कहते हैं। यह रस नींब का हुआ तो कटुकतम और ईख का हुआ तो मधुरतम कहा जायगा। एक सेर रस के तीन हिस्से जला दिये जायँ तो बचे हुए पाव भर रस को चतुःस्थानक कहते हैं। यह रस नींब का हुआ तो अतिकटुकतम और ईख का हुआ तो अतिमधुरतम कहा जायगा। इस प्रकार शुभ अशुभ फल देने की कर्म की तीव्रतम शक्ति को चतुःस्थानक, तीव्रतरशक्ति

को त्रिस्थानक तीव्र शक्ति को द्विस्थानक और मन्दशक्ति को एकस्थानक समझना चाहिये। इस लिए कुछ दोषयुक्त होने से ही यह सम्यक्त्व मोहनीय कहा जाता है।

प्र०—चल दोष किसे कहते हैं ?

उ०—जैसे एक ही जल नाना तरंगों में परिणत होता है उसी प्रकार तीर्थंकरों में समान अनंतशक्ति है तो भी श्री शांतिनाथ जी शांति करने में और श्री पार्श्वनाथ जी परिचय देने में समर्थ हैं, इस प्रकार अनेक विषयों में चलायमान होने के कारणभूत दोष को चल दोष कहते हैं।

प्र०—मल दोष किसे कहते हैं ?

उ०—जैसे *निर्मल सुवर्ण भी मल के कारण मलिन कहा* जाता है, वैसे ही जिसके कारण सम्यक् दर्शन में लुब्धस्यपन की तरंग से मलिनता आ जाय उसे मल दोष कहते हैं।

प्र०—आगाढ़ दोष किसे कहते हैं ?

उ०—जैसे वृद्ध पुरुष के हाथ में रक्खी हुई लाठी काँपती है वैसे ही जिस सम्यग् दर्शन के होते हुए भी जिससे यह मेरा शिष्य है, यह उनका शिष्य है, इत्यादि भ्रम हो, उसे आगाढ़ दोष कहते हे।

प्र०—मिश्र मोहनीय किसे कहते हैं ?

उ०—जिस कर्म के उदय से जीव की मिश्र रुचि हो अर्थात् दही और गुड़ के मिश्रित होने से न पूरा दही का स्वाद आता है न पूरा गुड़ का ही, वैसे न पूरी तत्त्वरुचि हो न पूरी अतत्त्वरुचि हो।

प्र०—मिथ्यात्व मोहनीय किसे कहते हैं ?

उ०—जैसे पित्त ज्वर के रोगी को ज्वर के कारण दूध आदि मीठे पदार्थ कड़वे लगते हैं। इसी प्रकार जिस कर्म के उदय से जिन प्रणीततत्त्व अच्छा नहीं लगता।

प्र०—कषाय किसे कहते हैं?

उ०—जो आत्मगुणों को कषै (नष्ट करे) अर्थात् जो जन्म मरण रूपी संसार को बढ़ावे।

प्र०—चारित्र मोहनीय कर्म के कितने भेद हैं?

उ०—दो। एक कषाय मोहनीय और दूसरा नोकषाय मोहनीय।

प्र०—कषाय किसे कहते हैं?

उ०—जो आत्म गुणों को कषै (नष्ट करे) अर्थात् जो जन्म मरण रूपी संसार को बढ़ावे।

प्र०—नो कषाय किसे कहते हैं?

उ०—कम कषाय को अर्थात् कषाय को उत्तेजित (प्रेरित) करने वाले हास्य आदि को।

प्र०—कषाय के कितने भेद हैं?

उ०—सोलह। अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ, संज्वलन क्रोध मान माया लोभ।

प्र०—अनन्तानुबंधी चौकड़ी (क्रोध मान माया लोभ) किसे कहते हैं?

उ०—जो जीव के सम्यक्त्व को नष्ट करके अनन्तकाल तक संसार में परिभ्रमण करावे।

प्र०—अप्रत्याख्यानावरण चौकड़ी किसे कहते हैं?

प्र०—पुरुष वेद किसे कहते हैं ?

उ०—जिसके उदय से स्त्री के साथ रमण करने की इच्छा हो।

प्र०—नपुंसक वेद किसे कहते हैं ?

उ०—जिसके उदय से स्त्री और पुरुष दोनों के साथ रमण करने की इच्छा हो।

प्र०—द्रव्य वेद किसे कहते हैं ?

उ०—नामकर्म के उदय से प्रगट हुए बाह्य चिह्न विशेष को।

प्र०—भाव वेद किसे कहते हैं ?

उ०—मैथुन करने की अभिलाषा को।

प्र०—किस किसकी काम वासना किस किस प्रकार की होती है ?

उ०—पुरुष की कामाग्नि घास के पूले के समान होती है, स्त्री की कामाग्नि कण्डी की सेंडी (मँगणी) के समान और नपुंसक की कामाग्नि नगर दाह की अग्नि के समान।

प्र०—आयु कर्म के कितने भेद हैं ?

उ०—चार। १नरकायु २तिर्यंचायु ३मनुष्यायु और ४देवायु।

प्र०—नाम कर्म की कितनी प्रकृतियाँ हैं ?

उ०—तेरानवे। ४ गति (देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारक) ५ जाति (एकेन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रिय जाति, पंचेन्द्रिय जाति) ५ शरीर (औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण) ३ अंगोपांग (औदारिक, वैक्रिय और आहारक) ५ बन्धन (औदारिक शरीर बन्धन, नाम कर्म वैक्रिय शरीर बन्धन, आहारक शरीर बन्धन, तैजस शरीर बन्धन, कार्मण शरीर बन्धन) ५ संघात नाम कर्म (औदारिक,

उ०—पाँच। १ औदारिक २ वैक्रिय ३ आहारक ४ तैजस और ५ कार्मण।

प्र०—औदारिक शरीर किसे कहते हैं ?

उ०—उदार-प्रधान अर्थात् जिस शरीर से मोक्ष पाया जा सके तथा जो मांस अस्थि आदि से बना हुआ हो।

प्र०—वैक्रिय शरीर किसे कहते हैं ?

उ०—जिससे एक से अनेक और विचित्र विविध रूप बन सकें।

प्र०—आहारक शरीर किसे कहते हैं ?

उ०—प्राणि दया, तीर्थंकरों की ऋद्धि का देखना, सूक्ष्म पदार्थ का जानना, संशय छेदन करना, इत्यादि कारणों के होने पर चौदह पूर्वधारी मुनिराज योगबल से जो शरीर बनाते हैं, उसे आहारक शरीर कहते हैं।

प्र०—तैजस शरीर किसे कहते हैं ?

उ०—औदारिक वैक्रिय शरीर को तेज (कांति) देने वाला, आहार को पचाने वाला और तेजोलेश्या का साधन शरीर तैजस शरीर कहलाता है।

प्र०—कार्मण शरीर किसे कहते हैं ?

उ०—ज्ञानावरण आदि कर्मों का खजाना और आहार को शरीर में ठिकाने ठिकाने पहुँचाने वाला।

प्र०—अंगोपांग नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उ०—जिस कर्म के उदय से अंग (शिर, पैर, हाथ आदि) और उपांग (अंगुलि, नाक, कान आदि) बनें।

प्र०—बन्धन नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उ०—जिस कर्म के उदय से हाड़ आपस में जुड़े हों।

प्र०—संस्थान नाम किसे कहते हैं ?

उ०—जिस कर्म के उदय से शरीर का आकार बने।

प्र०—सम चतुरस्र संस्थान नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उ०—जिस के उदय से पलोंठी (पालथी) मारने पर शरीर की शकल चारों ओर से समान हो।

प्र०—न्यग्रोध परिमंडल संस्थान नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उ०—जिस के उदय से शरीर की शकल बड़ वृक्ष जैसी हो अर्थात् नाभि से ऊपर के अवयव पूर्ण हों और नीचे के अपूर्ण छोटे छोटे हों।

प्र०—सादि संस्थान नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उ०—जिस के उदय से नाभि से नीचे के अवयव पूर्ण हों, ऊपर के छोटे छोटे हों।

प्र०—कुब्ज संस्थान नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उ०—जिसके उदय से शरीर कुबड़ा हो।

प्र०—वामन संस्थान नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उ०—जिस के उदय से शरीर वामन (बौना) हो।

प्र०—हुंडक संस्थान नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उ०—जिस कर्म के उदय से शरीर के सब अवयव बेढंगे हों, उसको हुंडक संस्थान नाम कर्म कहते हैं।

प्र०—वर्ण नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उ०—जिस नाम कर्म के उदय से शरीर में काला श्वेत आदि रंग हो।

प्र०—गन्ध नाम कर्म किसे कहते हैं ?

प्र०—उद्योत नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उ०—जिस कर्म के उदय से उद्योत रूप शरीर हो। जैसे चन्द्र मंडल खद्योतादि।

प्र०—अगुरुलघु नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उ०—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर न लोहे के गोले के समान भारी हो और न अर्कतूल के समान हलका हो।

प्र०—तीर्थंकर नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उ०—जिस नाम कर्म के उदय से तीर्थंकर पद की प्राप्ति हो।

प्र०—निर्माण नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उ०—जिस कर्म के उदय से अंग और उपांग शरीर में अपने अपने स्थान में व्यवस्थित रहें।

प्र०—उपघात नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उ०—जिस कर्म के उदय से जीव अपने ही अवयवों (पडजीभ छठी अंगुली आदि) से क्लेश को पावे।

प्र०—त्रस नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उ०—जिस कर्म के उदय से द्वीन्द्रियादि त्रस काय की प्राप्ति हो।

प्र०—बादर नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उ०—जिस कर्म के उदय से जीव को बादर स्थूल काय की प्राप्ति हो।

प्र०—पर्याप्त नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उ०—जिस कर्म के उदय से जीव अपनी अपनी पर्याप्तियों से युक्त हो।

प्र०—प्रत्येक नाम कर्म किसे कहते हैं ?

न किसी को रोके और न किसी से रुके) की प्राप्ति हो।

प्र० - अपर्याप्ति नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उ०—जिस कर्म के उदय से जीव पर्याप्ति पूर्ण न करे। इसके दो भेद हैं—१ लब्धपर्याप्ति और २ करण पर्याप्ति। जिस कर्म के उदय से जीव अपनी पर्याप्ति पूर्ण किये बिना ही मरे उसे 'लब्ध पर्याप्ति' कहते हैं और जिसके उदय से आहार, शरीर और इन्द्रिय—इन तीन पर्याप्तियों को अभी तक पूर्ण नहीं किया किन्तु आगे करने वाला हो, उसे 'करण पर्याप्ति' कहते हैं।

प्र०—साधारण नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उ०—जिस कर्म के उदय से एक शरीर के अनन्त जीव स्वामी हों

प्र०—अस्थिर नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उ०—जिस कर्म के उदय से कान, भौं और जीभ आदि अवयव अस्थिर अर्थात् चपल हों।

प्र०—अशुभ नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उ०—जिस कर्म के उदय से शरीर के पैर आदि अवयव अशुभ हों।

प्र०—दुर्भग नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उ०—जिस कर्म के उदय से दूसरे जीव शत्रुता या वैरभाव करें।

प्र०—दुःस्वर नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उ०—जिस कर्म के उदय से जीव का स्वर कठोर अप्रिय हो।

प्र०—अनादेय नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उ०—जिस कर्म के [illegible] वचन ग्राह्य न हों।

प्र०—अपयश कीर्ति नाम कर्म किसे कहते हैं?

उ०—जिस कर्म के उदय से दुनियाँ में अपयश या अपकीर्ति फैले।

प्र०—गोत्र कर्म के कितने भेद हैं?

उ०—दो। १ उच्च और २ नीच। जिस कर्म से अच्छे कुल में जन्म हो, उसे उच्च गोत्र कहते हैं और जिस कर्म के उदय से नीच कुल में जन्म हो उसे नीच गोत्र कहते हैं

प्र० अन्तराय कर्म के कितने भेद हैं?

उ०—पांच। १ दानान्तराय २ लाभान्तराय ३ भोगान्तराय ४ उपभोगान्तराय और ५ वीर्यान्तराय। यह कर्म दानादि ५ कार्यों में विघ्न करता है अर्थात् दानान्तराय—दान देने में विघ्न का हो जाना, लाभान्तराय-वस्तु की प्राप्ति में विघ्न उपस्थित होजाना भोगान्तराय—जो वस्तु एक बार भोगी जाय, उसे भोग कहते हैं, सो उसके भोगने में विघ्न का होजाना, उपभोगान्तराय—जो वस्तु बारम्बार भोगने में आवे उसमें विघ्न का पड़ जाना। इस प्रकार कर्मों की मूल प्रकृतियों और उत्तर प्रकृतियों का संक्षेप से वर्णन किया गया है।

जिस प्रकार एक ग्रास के खाने से शरीर के सप्त धातु उसी ग्रास के रस से उत्पन्न होते या वृद्धि पाते हैं, ठीक उसी प्रकार एक कर्म करने से फिर उस कर्म के परमाणु कर्मों की मूल प्रकृतियों या उत्तर प्रकृतियों में चले जाते हैं अर्थात् परि- [illegible] जाते हैं। किन्तु स्थिति बन्ध में इस विषय का वर्णन

किया गया है कि यावन्मात्र कर्मों की मूल या उत्तर प्रकृतियाँ हैं, वे सर्व स्थिति युक्त हैं। अतः स्थिति के पश्चात् फिर वे फल देने में असमर्थ हो जाती हैं। जिस प्रकार काठ वा इन्धन जल कर जब भस्म रूप हो जाता है तब फिर वह द्वितीय बार इन्धन रूप में नहीं आ सकता। ठीक उसी प्रकार जो कर्म एक बार फल दे चुका फिर वह द्वितीय बार फल नहीं दे सकता। क्योंकि उस कर्म ने आत्म प्रदेशों पर अपना अनुभव करा दिया फिर वह फल देने के पश्चात् निष्फल हो जाता है।

सूत्रकर्ता ने कर्मों का फलोदय अनेकान्तरूप से प्रतिपादन किया है। जैसे कि—

अण्णउत्थियाणं भंते, एवमाइक्खंति जावपरूवेंति सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता एवंभूयं वेयणं वेदेंति, से कहमेयं भंते, एवं गोयमा! जएणं ते अण्णउत्थिया एवमाइक्खंति जाव वेदेंति जे ते एवमाहंसुमिच्छा ते एवमाहंसु। अहं पुण गोयमा! एवमाइक्खामि जाव परूवेमि अत्थेगइया पाणा भूया जीवा सत्ता एवंभूयं वेयणं वेदेंति, अत्थेगइया पाणा भूया जीवा सत्ता अणेवंभूयं वेयणं वेदेंति। से केण्ड्डेणं अत्थेगइया तं चेव उच्चारियव्वं गोयमा! जेणं पाणा भूया जीवा सत्ता जहा कडा कम्मा तहा वेयणं वेदेंति तेणं पाणा भूया जीवा सत्ता एवंभूयं वेयणं वेदेंति। जेणं पाणा भूया जीवा सत्ता जहा कडा कम्मा नो तहा

इस कथन से सिद्ध हुआ कि कर्मों का बन्धन और उनका फल रूप अनुभव यह सब जीवों के भावों पर ही निर्भर है। अतः सदैव शुभ योग ही धारण करना चाहिए, जिसके कारण से आत्मा कर्मों के बन्धन से या उनके अशुभ फल से बचा रहे।

यदि इस स्थान पर यह प्रश्न किया जाय कि जब कर्म प्रकृतियाँ इस प्रकार से वर्णन की गई हैं तो फिर इन से जीव विमुक्त किस प्रकार हो सकता है? इस प्रश्न के समाधान में कहा जाता है कि संवरतत्त्व और निर्जरातत्त्व-ये दोनों ही तत्त्व कर्म प्रकृतियों से सर्वथा विमुक्त करने में अपनी समर्थता रखते हैं अर्थात् इन्हीं के द्वारा जीव निर्वाणपद प्राप्त कर सकता है। कारण कि जब नूतन कर्म करने का निरोध किया गया अर्थात् संवर किया गया तब स्वाध्याय और ध्यान (योग समाधि) द्वारा प्राचीन कर्म क्षय किये जा सकते हैं. और तब आत्मा सर्व प्रकार की कर्म प्रकृतियों से विमुक्त हो सकता है।

यदि ऐसा कहा जाय कि जब स्वाध्याय और ध्यान द्वारा कर्म क्षय किये जा सकते हैं तब वह जो स्वाध्याय और ध्यान रूप किया है उसके द्वारा फिर नूतन कर्म आ सकते हैं। इस क्रम से फिर किसी भी आत्मा को मोक्ष पद की प्राप्ति नहीं हो सकेगी। इस प्रश्न के समाधान में कहा जाता है कि आत्मा के वीर्य और उपयोग रूप दो लक्षण प्रतिपादन किये गए हैं। सो वीर्य तीन प्रकार से प्रतिपादन किया गया है। जैसे कि १ पंडितवीर्य २ बालवीर्य और ३ बालपंडितवीर्य। पंडितवीर्य द्वारा ही कर्म क्षय किये जा सकते हैं, शेष अन्य द्वारा नहीं।

सातवाँ पाठ

(अहिंसावाद)

प्रत्येक प्राणी की रक्षा और वृद्धि में अहिंसा एक मुख्य कारण है। यदि प्रेम संपादन करना चाहते हो ! यदि निर्वैरता के साथ जीवन व्यतीत करना चाहते हो ! यदि सुखमय जीवन व्यतीत करना चाहते हो ! यदि शान्तमय जीवन व्यतीत करना चाहते हो ! यदि जीवन विकास चाहते हो ! यदि धर्म और देशोन्नति चाहते हो ! यदि ब्रह्म में लीन होना चाहते हो अर्थात् निर्वाण पद चाहते हो ? तब अहिंसा भगवती के आश्रित होजाओ।

अहिंसामय जगत् ही जगदुद्धार कर सकता है न तु हिंसामय। सुरक्षित गोवर्ग ही जगत् का उपकार कर सकता है इसके विपरीत सिंह आदि हिंसक पशु जगत् रक्षण में असमर्थ होते हैं। इसलिये संसार से पार होने के लिये अहिंसा देवी की शरण ग्रहण करनी चाहिये। जिस प्रकार पृथिवी प्राणिमात्र के लिये आधारभूत है। ठीक उसी प्रकार अहिंसा भगवती प्राणिमात्र के लिये आश्रयभूत है। जिस प्रकार आत्मा में ज्ञान तदात्म सम्बन्ध से विराजमान है ठीक उसी तरह अहिंसा भगवती मोक्षेच्छु आत्मा के लिये तदात्म सम्बन्ध से सम्बन्धित होती है। इसीलिए ज्ञानी आत्माओं ने भाषण किया है कि—

कारण राग द्वेष के ही अन्तर्गत हो जाते हैं। जैसे कि क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, काम, आशा, स्ववश, परवश, अर्थ, अनर्थ, मूर्खता इत्यादि अनेक कारणों से जीवतत्त्व, धर्म और अर्थ के लिये हिंसा हो जाती है। किन्तु ये सब कारण राग और द्वेष के ही अन्तर्गत हो जाते हैं। इसलिये सूत्रकार का यह कथन ठीक ही है कि प्रमत्त योग से जो प्राणों का अतिपात होना है, वास्तव में उसी का नाम हिंसा है। क्योंकि हिंसा के कारण वास्तव में जीव के भाव ही होते हैं।

हिंसा के मुख्यतया दो भेद वर्णन किये गए हैं जैसे कि द्रव्य हिंसा और भाव हिंसा। संकल्प विना जो प्राणों का अतिपात हो जाता है, उसी को द्रव्य हिंसा कहते हैं। जैसे रक्षा करते करते किसी जीव के प्राणों का संहार हो जाता है उसी का नाम द्रव्य हिंसा है। जो स्वसंकल्प पूर्वक हिंसा होती है, उसी को भाव हिंसा कहते हैं।

स्वसंकल्प पूर्वक हिंसा अर्थ और अनर्थ दो तरह से होती है। साधु वर्ग के लिए तो दोनों प्रकार की हिंसा सर्वथा त्याज्य है। क्योंकि साधुत्व में शत्रु और मित्र दोनों समभाव से देखे जाते हैं। इसलिये अहिंसा नामक महाव्रत के पालन करने वाले ही महापुरुष हैं। परंच गृहस्थ वर्ग के लिए अनर्थ हिंसा का परित्याग होता है। क्योंकि संसार में निवास करने से वे अर्थ हिंसा का सर्वथा परित्याग कर ही नहीं सकते। अतः उनके लिये अर्थ और न्यायशीलता अवश्य धारण करनी चाहिये। इसलिए वास्तव में न्यायशीलता का ही नाम अहिंसा है

हिंसा के होने के मुख्य कारण आत्मा के संकल्प ही हैं। यद्यपि मन, वचन और काय के द्वारा भी हिंसा हो जाती है तथापि मानसिक हिंसा बलवती होती है। तथा च पाठः—

जे केइ खुड्डगा पाणा अदुवा संति महालया।
सरिसं तेहिं ति वेरंति असरिसंति यणो वदे ॥६॥
एएहिं दोहिं ठाणेहिं ववहारो न विज्जई।
एएहिं दोहिं ठाणेहिं अणा यारंतु जाणए ॥७॥ (युग्मम्)

(सूय गडांग सूत्र द्वितीय श्रुतस्कन्ध अ० ५ गाथा ६–७)

दीपिकाटीका—ये केचित् क्षुद्राः प्राणिनः एकेन्द्रियद्वीन्द्रियादयोऽल्पकाया वा पञ्चेन्द्रियाः अथवा महालया महाकायाः सन्ति, तेषां क्षुद्राणां कुंथ्वादीनां महतां हस्त्यादीनां च हनने सदृशं वैरं कर्मबन्धस्तुल्य इत्येकान्तेन नो वदेत् असदृशं वा तद्घाते वैरं कर्मबन्ध इन्द्रियज्ञानकामानां विचित्रत्वादित्यपि नो वदेत्। नहि वध्यवशात् कर्मबन्धः किन्तु अध्यवसायवशात्। तीव्राध्यवसायादल्पमपि सत्वं घ्नतो महान् कर्मबन्धः अकामस्तु महाकायप्राणिहननेऽपि स्वल्पबन्ध इत्यर्थः ॥ ६ ॥

'एएहिं' इति—एताभ्यां तुल्यातुल्यविरूपाभ्यां स्थानाभ्यां व्यवहारो न विद्यते अध्यवसायस्यैव बन्धाबन्धहेतुत्वात्। एताभ्यां द्वाभ्यां स्थानाभ्यां प्रवृत्तस्यानाचारं जानीयात्। तथाहि नहि जीववधे हिंसा स्यात् तस्य नित्यत्वात्। यदुक्तम्—

पञ्चेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च उच्छ्वासनिश्वासमथाऽन्यदायुः। प्राणा दशैते भगवद्भिरुक्तास्तेषां वियोजीकरणं तु हिंसा ॥ इति।

[illegible]

यपं अतिचरति। णो तिणट्ठे समट्ठे नो खलु तस्स अइ-वायाए आउट्टति ॥

(भगवती-सूत्र शतक ७ उद्देश १ सू० २६३)

टीका--श्रमणोपासकाधिकारादेव "समणोवासगे" इत्यादि-प्रकरणम्। तत्र च 'तसपाणसमारंभे' त्ति त्रसवधः, णो खलु से तस्स अतिवायाए आउट्टइ' इति न खलु तस्य त्रसप्राणस्य अतिपाताय वधाय, आवर्तते प्रवर्तते, इति न सङ्कल्पवधोऽसौ सङ्कल्पवधादेव च निवृत्तोऽसौ न चैव तस्य संपन्न इति नासावतिचरति व्रतम् इति ॥

भावार्थ—इस सूत्र में इस विषय का प्रतिपादन किया गया है कि श्री गौतम स्वामी जी श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से पूछते हैं कि-हे भगवन्! किसी श्रमणोपासक ने त्रस प्राणी के वध का परित्याग कर दिया किन्तु उसके पृथ्वी काय के समारंभ का त्याग नहीं है तो फिर उससे किसी समय पृथिवी को खनते हुए उसी के द्वारा यदि किसी त्रस जीव की हिंसा होजावे तो क्या फिर उस का नियम ठीक रह सकता है? इस प्रश्न के उत्तर में श्री भगवान् कहते हैं कि हे गौतम! उस का नियम ठीक रह सकता है क्योंकि उसका संकल्प त्रस जीव के मारने का नहीं है इसलिये उसको व्रत में अतिचार नहीं लगता है।

प्रश्न—हे भगवन्! श्रमणोपासक ने वनस्पति काय के आरंभ का परित्याग किया हुआ है किन्तु पृथिवी काय के समारंभ का त्याग नहीं किया है अतः पृथिवी काय को खनता हुआ किसी अन्य वृक्ष के मूल को छेदन कर देवे तो हे भगवन्'

उत्तर—सिद्ध, बुद्ध, पारंगत, परम्परागत, अजर, अमर, विभु, योगीश्वर, एक, अचिन्त्य, असंख्य, इत्यादि अनेक नाम ईश्वर परमात्मा के कथन किये गए हैं।

प्रश्न—क्या जैनमत परमात्मा को सर्व व्यापक भी मानता है?

उत्तर—हाँ, जैनमत सिद्ध परमात्मा को सर्व व्यापक भी मानता है।

प्रश्न—सर्व व्यापक किस प्रकार से मानता है?

उत्तर—ज्ञान से वा उपयोगात्मा से।

प्रश्न—क्या परमात्मा शरीर से व्यापक नहीं है?

उत्तर—नहीं है, क्योंकि उस का शरीर नहीं है।

प्रश्न—क्या वह आत्म प्रदेशों से व्यापक नहीं है?

उत्तर—जीव आत्म प्रदेशों द्वारा लोकाकाशप्रमाण व्यापक हो सकता है, किन्तु समय के बीच समुद्घात करते हुए उस के केवल आठ समय प्रमाण ही काल होता है।

प्रश्न—ज्ञान से सर्वत्र व्यापक किस प्रकार हो सकता है?

उत्तर—जिस प्रकार सूर्य किरणों द्वारा परिमित क्षेत्र में व्यापक है वा किरणों द्वारा परिमित क्षेत्र प्रकाशित करता है ठीक इसी प्रकार सिद्ध परमात्मा भी लोकालोक में ज्ञान द्वारा व्याप्त है।

प्रश्न—क्या परमात्मा ब्रह्म नहीं है?

उत्तर—नहीं है।

प्रश्न—तो फिर क्या है?

उत्तर—वह द्रव्य है।

करने योग्य होता है उसे ही ध्येय कहते हैं। वह ध्येय दो प्रकार से वर्णन किया गया है जैसे कि चेतन और जड़। चेतन द्रव्य में सभी चेतन प्राप्त हैं और जड़ में धर्मास्ति काय, अध मास्ति काय, आकाशास्ति काय, काल द्रव्य और पुद्गल द्रव्य- इनको भी ध्येय बनाया जाता है।

सब से पहले आत्मदर्शी बनना चाहिए जिससे सर्व ज्ञान की प्राप्ति द्वारा लोकालोक को भली प्रकार देखा जासके जैसे कि यह आत्मा अजर, अमर, अक्षय अव्यय, सर्वज्ञ सर्वदर्शी, ज्ञानात्मा से सर्व व्यापक, अनन्त शक्ति वाल और अनन्त गुणों का आकर है। इस प्रकार ध्यान से विचा करे कि मेरी तो उक्त शक्तियाँ शक्तिरूप हैं किन्तु सिर परमात्मा की ये शक्तियाँ व्यक्तरूप हैं।

अणोरपि च यः सूक्ष्मो महानाकाशतोऽपि च।
जगद्वन्द्यः स सिद्धात्मा निष्पन्नोऽत्यन्तनिर्वृतः ॥१॥

अर्थ—जो सिद्ध स्वरूप परमाणु से तो सूक्ष्म स्वरूप और आकाश से भी महान् है, वह अत्यन्त सुखमय, सिद्ध सिद्धात्मा जगत् के लिए वंदना योग्य है ॥१॥

इस प्रकार उसके ध्यान मात्र से ही रोग शोक नष्ट हो जा हैं तथा उसके जाने बिना सब अन्य जानना निरर्थक है। अ उसी को ध्येय बना कर उसमें ही लीन हो जाना चाहिए इसलिए यह बात सभी हो सकती है जब आत्मा बहिरात अन्तरात्मा और परमात्मा के स्वरूप को भली प्रकार जान ले जैसे कि आत्मा से भिन्न पदार्थों में आत्म बुद्धि का जो होना

[illegible] है। किन्तु जिस पुरुष ने अपनी आत्मा का उन्नयन करके आत्मा में ही ब्रह्म का निश्चय किया है, विभ्रम का अन्धकार दूर करके सूर्य के समान उस आत्मा के ज्ञान रूप पुरुष ने उसको अन्तरात्मा कहा है। किन्तु जो नित्य, आनन्दमय, शुद्ध, ज्ञानरूप, अत्यन्त निर्मल और निर्विकल्प है इस प्रकार के शुद्धात्मा को परमात्मा कहा गया है। [illegible] परमात्मा का [illegible] बना कर फिर उसके स्वरूप में तन्मय हो जाना चाहिए क्योंकि उस का ध्यान यही होता है कि जो वह है सो मैं हूँ, जो मैं हूँ सो वह है। [illegible] इस प्रकार के अभ्यास से आत्मा तन्मय हो जाता है। कारण कि यह समाधि वास्तव में सुख का कारण होती है किन्तु आत्म समाधि वाले व्यक्ति को योग्य है कि वह सब से पहले इन्द्रियों का संयम और भोजन का विवेक अवश्य कर लेवे। कारण कि जब आहार का विवेक रहता तब समाधि में प्रायः कोई भी विघ्न उपस्थित नहीं हो सकता।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि किन किन धारणाओं द्वारा समाधिस्थ होना चाहिए? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है—१. पार्थिवी धारणा २ आग्नेयी धारणा ३ मारुती धारणा ४ वारुणी धारणा और ५ तत्त्वरूपवती धारणा—इन पाँचों धारणाओं द्वारा मनोवृत्ति एकाग्र करके आत्म स्वरूप का चिन्तन करना चाहिए तथा इन धारणाओं द्वारा आत्मदर्शन हो जाना चाहिए।

यदि ऐसा कहा जाए कि इन धारणाओं का संक्षेप से

धारणा किस प्रकार से की जाती है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि इन धारणाओं की संक्षेप से व्याख्या इस प्रकार जाननी चाहिए।

१ पार्थिवी धारणा-तिर्यक् लोक में क्षीर समुद्र का चिन्तन करके फिर उसके मध्य भाग में एक सहस्रदल कमल का चिन्तन करना चाहिए फिर उसकी कर्णिका के मध्य भाग में एक सुवर्णमय सिंहासन का चिन्तन करना चाहिए फिर इस आसन पर स्थित होकर निज आत्मा का चिन्तन करना चाहिए। जैसे कि मेरा ही आत्मा रागद्वेष के क्षय करने में समर्थ है और यही आत्मा परमात्म गुणों से युक्त है इत्यादि विचार करने से पार्थिवी धारणा का स्वरूप माना जाता है। इसी को पार्थिवी धारणा कहते हैं।

२ आग्नेयी धारणा—नित्य अभ्यास करने वाला योगी अपने नाभिमण्डल में सोलह दल वाले कमल का चिन्तन करे फिर उन दलों में अकारादि सोलह वर्ण मात्राओं को स्थापन करके फिर मध्य कर्णिका में 'अर्हं' शब्द का चिन्तन करे। इतना ही नहीं किन्तु हृदयस्थ कमल जो आठ दल वाला है उसके आठों दलों में आठों कर्मों की मूल प्रकृतियां मानों 'अर्हम्' शब्द से निकलती हुई अग्नि ज्वाला द्वारा उन कर्मों को भस्म कर रही है इस प्रकार से चिन्तन करे। इसी का नाम आग्नेयी धारणा है।

३ मारुती धारणा—फिर योगी इस बात का विचार करे कि जो आठ कर्मों की वा शरीर की भस्म है, उसको महावायु वेग उड़ा रहा है और फिर उस भस्म के उड़ जाने से आत्मा निर्मल और परम पवित्र हो गया है तथा इस वायु

दशवाँ पाठ

(मोहनीय कर्म के बन्ध विषय)

प्रिय पाठको ! अनादि काल से यह जीव अज्ञानवश नाना प्रकार के कर्मों के करने से नाना प्रकार की योनियों में नाना प्रकार के दुःखों का अनुभव करता रहा है और फिर अपने निजस्वरूप को भूल कर पर स्वरूप में निमग्न हो गया है, जिसके कारण से उसका आत्मा परम दुःखित और दीन भाव वाला दीखता है। ये सब विपदाएँ इसके अज्ञान भाव की हैं। अतः शास्त्रकारों ने सब से प्रथम ज्ञान को मुख्य माना है क्योंकि जब आत्मा ज्ञान युक्त होता है तब उसका अज्ञान आत्मा से इस प्रकार दूर भागता है जिस प्रकार सूर्य के उदय होते ही अन्धकार भाग जाता है। इसलिए सब से प्रथम विद्यार्थियों को इन कर्मों के विषय में बोध होना चाहिए, जिनके करने से आत्मा महामोहनीय कर्म की उपार्जना करता है।

श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने जनता के हित के लिये समवायांग सूत्र के ३० वें समवाय पर इन तीस कर्मों का वर्णन किया है, जिनके करने से जीव महा अज्ञानता के कर्मों की उपार्जना कर के संसार चक्र में परिभ्रमण करता है। अतः ये कर्म न करने चाहियें।

अब पाठकों के बोध के लिये सूत्र सहित इन ३० को लिखे जाते हैं—

पहला महामोहनीय विषय

जे या वितमे पाणे वारिमज्झे विगाहिया।
उदगेण कम्मा मारेइ महामोहं पकुव्वइ ॥ १ ॥

अर्थ— जो कोई व्यक्ति त्रस प्राणियों को जल में डुबो कर [illegible] मारता है, वह महामोहनीय कर्म की उपार्जना [illegible]

दूसरा महामोहनीय विषय

[illegible] अभिक्खणं आवेढेइ।
[illegible] महामोहं पकुव्वइ ॥ २ ॥

[illegible] त्रस व्यक्ति के शिर पर [illegible] करता है और फिर तीव्र [illegible] मारने वाला [illegible]

[illegible]

[illegible] पाणिणं [illegible]
[illegible] मारेइ महामोहं [illegible]

अर्थ— [illegible] हाथ से किसी प्राणी [illegible] करते हुए को [illegible] घोट कर [illegible] मोहनीय कर्म की उपार्जना करता है।

चौथा महामोहनीय विषय

जायतेयं समारम्भ बहु ओरुंभिया जणं।
अंतो धूमेण मारेइ महामोहं पकुव्वइ ॥ ४ ॥

अर्थ—जो अग्नि को प्रज्वलित कर बहुत से [illegible]

मंडप घातादि में रोक कर भीतर घेरे हुए प्राणियों को धुएं से मारता है, वह महामोहनीय कर्म बांधता है ।

पाँचवाँ महामोहनीय विषय

सिस्सम्मि जे पहणइ उत्तमंगम्मि चेयसा ।
विभज्ज मत्थयं फाले महामोहं पकुव्वइ ॥ ५ ॥

अर्थ—जो व्यक्ति संक्लिष्ट चित्त से किसी प्राणी के शिर पर प्रहार करता है और फिर मस्तक का भेदन तथा ग्रीवादि का विदारण करता है वह व्यक्ति महामोहनीय कर्म की उपार्जना करता है ।

छठा महामोहनीय विषय

पुणो पुणो पणिधिए हरित्ता उवहसे जणं ।
फलेणं अदुवा दंडेणं महामोहं पकुव्वइ ॥ ६ ॥

अर्थ—जो बारम्बार छल से मार्ग में चलते हुए को मारता है तथा मूर्ख आदि को फल से या दंड से मार कर फिर उन की खूब हँसी करता है, वह महामोहनीय कर्म को बांधता है।

सातवाँ महामोहनीय विषय

गूढायारीनि गूहिज्जा मायं मायाए छायए ।
असच्चवाई णिण्हाई महामोहं पकुव्वइ ॥ ७ ॥

अर्थ—जो अपने गुप्ताचार को छिपाता है, छल को छल से आच्छादन करता है, असत्य बोलता है और अपने अवगुणों को छिपाता है, वह महामोहनीय कर्म बांधता है ।

करता है और समीप आजाने पर भी असंभ्यव्यवहार करने के लिए अनुकूल या प्रतिकूल वचनों से तिरस्कार कर राजा के सुखों का विदारण करता है, वह व्यक्ति महामोहनीय कर्म बांधता है।

ग्यारहवाँ महामोहनीय विषय

अकुमारभूए जे केई कुमारभूए त्ति हं वए।
इत्थीहिं गिद्धे वसए महामोहं पकुव्वइ ॥१२॥

अर्थ—जो बालब्रह्मचारी नहीं है किन्तु अपने आपको बाल ब्रह्मचारी कहता है और स्त्रियों के विषय में मूर्छित रहता है अर्थात् स्त्री के वशवर्ती है, वह महामोहनीय कर्म बांधता है।

बारहवाँ महामोहनीय विषय

अबंभचारी जे केई बंभचारि त्ति हं वए।
गद्दहेव्व गवां मज्झे विस्सरं नयई नदं ॥१३॥
अप्पणो अहिए बाले मायामोसं बहुं भसे।
इत्थीविसयगेहीए महामोहं पकुव्वइ ॥१४॥

अर्थ—जो व्यक्ति अब्रह्मचारी है किन्तु अपने आपको जनता में ब्रह्मचारी कहता है, उसका शब्द ऐसा है जैसे कि गौओं के मध्य में गर्दभ बोलता हो। अपना ही अहित करने वाला जो मूढ और झूठा बहुत झूठ बोलता है और स्त्री के विषय में मूर्छित (आसक्त) है, वह महामोहनीय कर्म को बांधता है।

तेरहवाँ महामोहनीय विषय

जं निस्सिए उव्वहइ जससाहिगमेण वा।
तस्स लुब्भइ वित्तंसि महामोहं पकुव्वइ ॥१५॥

है तथा जो विद्यार्थी अपने अध्यापक को मारता है, वह महा मोहनीय कर्म बांधता है।

सोलहवाँ महामोहनीय विषय

जे नायगं च रट्ठस्स नेयारं निगमस्स वा।
सेट्ठिं बहुरवं हंता महामोहं पकुव्वइ ॥१९॥

अर्थ—जो राष्ट्रीय [illegible] का या [illegible] के नेता को तथा बहुयश वाले राष्ट्रीय या नगर श्रेष्ठी [illegible] को मारता है, वह महामोहनीय कर्म बांधता है।

सत्रहवाँ महामोहनीय विषय

बहुजणस्स णेयारं दीवं ताणं च पाणिणं।
एयारिसं नरं हंता महामोहं पकुव्वइ ॥२०॥

अर्थ—[illegible] द्वीपवत् प्राणियों के लिये आधारभूत है और जो बहुत से जीवों का नेता है तथा दीपवत् न्याय मार्ग को प्रकाशित करने वाला है, ऐसे पुरुष को मारने वाला महामोहनीय कर्म की उपार्जना करता है।

अठारहवाँ महामोहनीय विषय

उवट्ठियं पडिविरयं संजयं सुतवस्सियं।
वुकम्म धम्माओ भंसइ महामोहं पकुव्वइ ॥ २१ ॥

अर्थ—जो धर्म करने के लिये उपस्थित हुआ है [illegible] [illegible] से विरक्त होकर संयत [illegible] और तप करने लगा है, उसको जो बलात्कार से धर्म भ्रष्ट करता है, वह महामोहनीय कर्म बांधता है।

अर्थ—जो आचार्य और उपाध्यायों द्वारा उपकृत किया गया फिर सम्यक्तया उनकी प्रतिपत्ति नहीं करता और न उनकी सेवा करता है किन्तु अहंकार में भरा रहता है, वह महामोहनीय कर्म उपार्जन करता है।

छब्बीसवाँ महामोहनीय विषय

अबहुस्सुए य जे केई सुएणं पविकत्थई।
सज्झायवायं वयइ महामोहं पकुव्वइ ॥ २६ ॥

अर्थ—यदि कोई बहुश्रुत नहीं है किन्तु फिर भी अपनी आत्मश्लाघा करता है कि "मैं बहुश्रुत हूँ" और स्वाध्याय विषय वाद करता है कि मैं ही शुद्धपाठोच्चारण करने वाला हूँ वह महामोहनीय कर्म बांधता है।

सत्ताईसवाँ महामोहनीय विषय

अतवस्सीए य जे केई तवेण पविकत्थई।
सव्वलोए परे तेणे महामोहं पकुव्वइ ॥ २७ ॥

अर्थ—जो कोई तपस्वी नहीं है किन्तु अपने आपको तपस्वी कहता है, वह सर्वलोक में सबसे बढ़कर चोर है, इस से वह महामोहनीय कर्म बांधता है।

अट्ठाईसवाँ महामोहनीय विषय

साहारणट्ठा जे केई गिलाणम्मि उवट्ठिए।
पभू ण कुणई किच्चं मज्झं पि से न कुव्वई ॥ २८ ॥
सढे नियडिपण्णाणे कलुसाउलचेयसे।
अप्पणो य अबोहीए महामोहं पकुव्वइ ॥ २९ ॥ कुष्का

अर्थ—जो मनुष्य के काम भोगों की अथवा परलोक के भोगों की इच्छा करता हुआ अभिलाषा रखता है, वह मोहनीय कर्म को बांधता है।

उनतीसवाँ महामोहनीय विषय

इड्ढी जुई जसो वण्णो देवाणं बलवीरियं ।
तेसिं अवण्णवं बाले महामोहं पकुव्वइ ॥ ३३ ॥

अर्थ—जो मूढ व्यक्ति देवों की ऋद्धि, द्युति, यश, वर्ण तथा बल आदि की निन्दा करता है, वह महामोहनीय कर्म बांधता है।

तीसवाँ महामोहनीय विषय

अपस्समाणो पस्सामि देवे जक्खे य गुज्झगे ।
अण्णाणी जिणपूयट्ठी महामोहं पकुव्वइ ॥ ३४ ॥

अर्थ—जो व्यक्ति देव, यक्ष, गुह्यक आदि देवों को न देखता हुआ भी कहता है कि मैं इन्हें देखता हूं और फिर वह अज्ञानी जिनेन्द्र देव के समान अपनी पूजा की इच्छा रखता है अर्थात् जिन पूजार्थी है, वह महामोहनीय कर्म की उपार्जना करता है।

भद्रपुरुषो ! इस प्रकार श्रीश्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने प्रत्येक प्राणी के हित के लिये इन स्थानों का वर्णन किया। इस के द्वारा प्रत्येक प्राणी को स्वकीय कर्तव्यता का भली भांति बोध हो जाता है। फिर वह अपनी कर्तव्य परायणता को समझ कर उस में आरूढ हो सकता है। इन शिक्षाओं में राष्ट्रीय शिक्षाएँ भी कूट कूट कर भरी गई हैं, धार्मिक शिक्षाएँ

ग्यारहवाँ पाठ

(गुरु शिष्य का संवाद)

[शि]ष्य—हे भगवन् ! आत्मा किस प्रकार से पापरूप कर्म की शुद्धि कर सकता है ?

गुरु—हे शिष्य ! आलोचना द्वारा पाप कर्म की शुद्धि [क]र सकती है।

शिष्य—हे भगवन् ! आलोचना किसे कहते हैं ?

गुरु—हे शिष्य ! जो पाप कर्म गुप्त रूप से किया गया हो, [illegible] कर्म की गुरु के पास आलोचना करनी चाहिए अर्थात् [illegible] के समक्ष उस कर्म को प्रकट कर देना चाहिए। [illegible] उस कर्म का जो प्रायश्चित्त प्रदान करें उसे सहर्ष [स्व]ीकार करना चाहिए क्योंकि वह प्रायश्चित्त [illegible] [illegible] सिद्ध ही होता है। किन्तु आलोचना करते समय [illegible] [illegible] हृदय के [illegible] [illegible] [illegible] हृदय को [illegible] पूर्ण प्रकार से [illegible]

शिष्य—हे भगवन् ! किस गुरु के पास आलोचना करनी चाहिए ?

गुरु—जो गुरु साधु के गुणों से युक्त हों [illegible] [illegible] [illegible]

[illegible] न करे जिसकी आत्मा पर उस दोष के [illegible] प्रकार से बुरा प्रभाव न पड़ सकता हो और [illegible] आत्मा संयम गुण में तल्लीन हो। वही गुरु [illegible] सुनने के योग्य हो सकता है।

शिष्य—[illegible] प्रकार से परीक्षा किये जाने पर भी गुरु [illegible] इससे अमुक व्यक्ति के गुण हुए [illegible] फिर उस [illegible] माना है?

गुरु—हे शिष्य! [illegible] गुरु ने इस बात का प्रकाशन किया [illegible] शिष्य का [illegible] प्रायश्चित [illegible] गुरु [illegible] है। किन्तु [illegible] आत्मा शुद्ध हो ही [illegible]

शिष्य—हे भगवन्! आपत्ति [illegible] धर्मात्माओं को क्या करना चाहिए?

गुरु—हे शिष्य! आपत्ति काल के समय धर्मात्माओं को योग्य है कि वे धर्म में दृढ़ता रक्खें। कारण कि [illegible], मित्र और धर्म इनकी परीक्षा विपत्ति काल में ही होती है। अब आपत्ति काल के आने पर धर्म से स्खलित हो गया तो फिर उस धर्म की दृढ़ता कहाँ पर देखी जायगी?

शिष्य—अब आपत्ति काल के आने पर [illegible] जीवन ही न रहता हो तो फिर उस समय धर्मात्माओं को क्या करना चाहिए?

गुरु—धर्मपूर्वक जीवन रक्षा करनी चाहिए, [illegible] धर्म

...कर जीवन रखा। क्योंकि वास्तव में वही जीवन श्रेष्ठ है जो धर्मपूर्वक हो। परंतु जो धर्म से रहित जीवन है वह किसी काम का जीवन नहीं है। अतः आपत्ति काल के आजाने पर भी धर्मात्माओं को योग्य है कि वे जीवनोत्सर्ग करके भी धर्म की रक्षा करें जिससे फिर धर्म उनकी रक्षा कर सके और लोगों के लिए आदर्श बन सकें।

शिष्य—हे भगवन् ! धर्मरूपी मंदिर में प्रविष्ट होने के लिए कौन कौन से मार्ग हैं ?

गुरु—हे शिष्य ! धर्मरूपी मन्दिर में प्रविष्ट होने के लिये चार मार्ग हैं। जैसे कि—१ क्षमा २ निर्लोभता ३ आर्जव भाव और ४ [illegible] भाव ([illegible])। इन चारों कारणों से धर्मरूपी मन्दिर में सुखपूर्वक प्रविष्ट हो सकते हो।

शिष्य—हे भगवन् ! उक्त चारों मार्गों का ज्ञान किस प्रकार से हो सकता है ?

गुरु—हे शिष्य ! शिक्षा द्वारा।

शिष्य—हे भगवन् ! शिक्षा कितने प्रकार से वर्णन की गई है ?

गुरु—हे शिष्य ! शिक्षा दो प्रकार से प्रतिपादन की गई है। जैसे कि—१ ग्रहण शिक्षा और २ आसेवन शिक्षा। ग्रहण शिक्षा से यह ग्रहण करना चाहिए कि विधिपूर्वक पढ़ना और [illegible] सिखाई जावें। आसेवन शिक्षा का यह मन्तव्य है कि जिस प्रकार शास्त्रों के स्वाध्याय से [illegible] शिक्षा [illegible] की जावे, फिर उनको उसी प्रकार क्रिया द्वारा आचरण में लाना चाहिए।

गुरु—हे शिष्य ! सन्तोष रूपी धन की प्राप्ति हो जाती है, जिसका अन्तिम परिणाम यह होता है कि आत्मा निज स्वरूप में स्थित होता हुआ परमात्म पद में लीन हो जाता है परन्तु जिस प्रकार दीपक की प्रभा में अन्य दीपक की प्रभा एकता धारण कर लेती है, उसी प्रकार निर्लोभी आत्मा भी सिद्ध पद में लीन हो जाता है जिससे फिर वह अक्षय सुख का अनुभव करने वाला होता है

शिष्य—हे भगवन् ! तितिक्षा सहन करने से किस गुण की प्राप्ति होती है ?

गुरु—हे धर्मप्रिय ! कष्टों के सहन करने से आत्मा में एक अलौकिक शक्ति का संचार होने लगता है जिसके कारण से फिर आत्मा में उत्साह और अनन्त बल का प्रादुर्भाव होने लग जाता है तथा फिर जिससे आत्मा विकास मार्ग की ओर मुड़ने लगता है।

शिष्य—हे भगवन् ! आर्जवभाव धारण करने से किस गुण की प्राप्ति होती है ?

गुरु—हे शिष्य ! आर्जवभाव के धारण करने से आत्मा [illegible] भावों में परम रमणता हो जाती है, फिर इस भाव धर्म की वृद्धि [illegible] का ही बंध होने लगता है। इतना ही नहीं किन्तु इसका प्राणी मात्र [illegible] जीव के साथ मैत्री भाव हो जाता है। कारण कि मैत्री भाव [illegible] के विनाश करने वाली दुर्भावनाएं विकारी होती हैं, [illegible] विकारों का आर्जवभाव के कारण नाश ही हो जाता है। [illegible] इसकी अविकारता से मैत्री हो जाती है।

शिष्य - इसके विषय कहते हैं !

गुरु—धैर्य वाली मति के धारण करने से अदैन्य गुण की प्राप्ति हो जाती है, उत्साह, गांभीर्यभाव, सहन शीलता बढ़ जाते हैं, जिस से फिर वह व्यक्ति कठिनतर कार्य के साधन में भी अपना सामर्थ्य उत्पन्न कर लेता है। इतना ही नहीं, किन्तु उसके आत्मा पर हर्ष और शोकादि के कारणों का विशेष प्रभाव नहीं पड़ सकता। अतः उसका आत्मा अकम्पन शील हो जाता है।

शिष्य—संवेग धारण करने से किस फल की प्राप्ति होती है?

गुरु—वैराग्य के धारण करने से मोक्षाभिलाष बढ़ जाता है, सांसारिक पदार्थों से उदासीन भाव आ जाता है और चित्त में अनित्य भावना का निवास हो जाने से आत्मा निज स्वरूप की खोज में ही लग जाता है।

शिष्य—हे भगवन्! प्रणिधि शब्द का क्या अर्थ है?

गुरु—हे शिष्य! प्रणिधि शब्द का अर्थ है कि माया शल्य न करना चाहिए अर्थात् धर्मात्माओं से कदापि छल न करना चाहिए।

शिष्य—हे भगवन्! 'सुविहि' शब्द का क्या अर्थ है?

गुरु—हे शिष्य! सुविहि शब्द का अर्थ है कि सदनुष्ठान करना चाहिए। अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति को योग्य है कि वह सदनुष्ठान (सदाचरण) द्वारा ही अपना जीवन व्यतीत करे।

शिष्य—हे भगवन्! संवर करने से किस गुण की प्राप्ति होती है?

गुरु—हे शिष्य! संवर करने से कर्म आने के आस्रवों मार्गों का भली भांति निरोध किया जाता है।

निर्भयता तथा दक्षता गुण की प्राप्ति हो जाती है।

शिष्य—हे भगवन् ! क्षण क्षण में क्या करना चाहिए ?

गुरु—हे शिष्य ! प्रत्येक क्षण धर्मध्यानपूर्वक व्यतीत करना चाहिए जिससे आत्मस्वरूप की उपलब्धि हो सके। दिनचर्या या रात्रिचर्या समय विभाग कर के व्यतीत करनी चाहिए, जिससे ज्ञानावरणीयादि कर्मों का क्षय हो जाए। ज्ञानावरणीयादि कर्मों के क्षयोपशम होने से भी आत्मा निज कल्याण करने में समर्थ हो जाता है।

शिष्य—ध्यान संवरयोग का क्या अर्थ है ?

गुरु—हे शिष्य ! 'ध्यानमेव संवरयोगो ध्यानसंवरयोग' अर्थात् जिस का ध्यान ही संवरयोग है उसी को 'ध्यान संवर योग' कहते हैं। सारांश इतना ही है कि योगों को ध्यान और संवर में ही लगाने से स्वकार्यसिद्धि हो सकती है।

शिष्य—हे भगवन् ! मारणांतिक कष्टों के सहारने से किस गुण की प्राप्ति हो सकती है ?

गुरु—हे भद्र ! धर्म की रक्षा के लिये मारणांतिक कष्टों के सहने से निज स्वरूप की प्राप्ति हो सकती है तथा धर्मादि कार्यों की सिद्धि हो जाती है।

शिष्य—हे भगवन् ! कुसंग त्यागने से किस गुण की प्राप्ति होती है ?

गुरु—हे शिष्य ! कुसंग त्यागने से सुसंग की प्राप्ति हो जाती है आत्मा सदनुष्ठान में लगा रहता है। क्योंकि कुसंग दोष अंगार (कोयले) के समान है। जो अंगार उष्ण होगा तब तो शरीर के अवयवों को भस्म

पुरुष के समान ही अधिकार दिए गए हैं । जैसे कि—जिस प्रकार श्रावक द्वादश व्रतादि धारण कर सकते हैं उसी प्रकार श्राविका भी द्वादश व्रतादि धारण कर सकती है । जिस प्रकार श्रावक सामायिक कर सकता है उसी प्रकार श्राविका भी सामायिक हो सकती है । जिस प्रकार पुरुष साधुवृत्ति ले सकता है, उसी प्रकार स्त्री भी साध्वी (निर्ग्रन्थी वा साध्वी) बन सकती है । जिस प्रकार साधु कर्म क्षय करके निर्वाण पद की प्राप्ति कर सकता है, उसी प्रकार साध्वी भी कर्म क्षय कर के मोक्षपद प्राप्त कर सकती है । जिस प्रकार साधु केवल ज्ञान प्राप्त कर अथवा मैं उपदेश द्वारा परोपकार कर सकता है उसी प्रकार साध्वी भी केवल ज्ञानयुक्त उपकार करती है । जिस प्रकार साधु को पांच प्रकार के स्वाध्याय (वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा) करने की आज्ञा है, उसी प्रकार साध्वी को भी है । अतः जैनशास्त्रों के [illegible] स्त्रियों को वे ही अधिकार हैं, जो पुरुष के लिये कथन किये गए हैं । इसी लिए जैन सूत्रों में लिखा है कि—पन्द्रह भेदी सिद्ध होते हैं । उन भेदों में एक सूत्र यह आता है कि "स्त्रीलिङ्गसिद्धा" अर्थात् स्त्रीलिङ्ग से भी सिद्ध होते हैं । इसलिये यह बात निर्विवाद सिद्ध हो गई कि जितने अधिकार पुरुष को हैं, उतने ही स्त्री को भी हैं । किन्तु वे सब अधिकार आवश्यक पूर्वक ही दिए जाते हैं और योग्यता पूर्वक ही प्रयत्न किये जाते हैं ।

शिष्य—क्या [illegible] के [illegible] भी [illegible] हो सकता है ?

गुरु— [illegible] [illegible] हैं [illegible]

लोए सव्वसाहुणीणं' इस पद की आवश्यकता नहीं है। यदि लिंग विशेष को ही ग्रहण करना है तब तो फिर नपुंसक लिंग वाले जीव भी सिद्ध पद ग्रहण कर सकते हैं या करते हैं तब उनके लिये 'नमो लोए सव्वनपुंसगसाहूणं' इस प्रकार एक और नूतन सूत्र की रचना करनी चाहिए। जब इस प्रकार माना जायगा तब प्रत्येक व्यक्ति के लिये पृथक् सूत्र की रचना करनी चाहिए। अतः यह ठीक नहीं है किन्तु साधुत्व पद सब में सामान्य रूप से रहता है, इसलिये 'नमो लोए सव्वसाहूणं' यही पद ठीक है। इस पद से अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य और उपाध्याय तथा अन्य वाचनाचार्य प्रवर्तकादि की उपाधियां हैं, उन के भी अतिरिक्त जो सामान्य साधु वा आर्यायें हैं, उन सब का ग्रहण किया गया है तथा आचार्य वा उपाध्याय—इन दो विशेष उपाधियों को छोड़कर शेष सभी उपाधियां साधुत्व भाव में ली गई हैं, इसलिए भी 'नमो लोए सव्वसाहूणं' यही पद ठीक है।

शिष्य—जब सिद्ध पद आठ कर्मों से रहित है और अर्हन्त पद चार कर्मों से युक्त है तो फिर पहले 'नमो सिद्धाणं' यह पद चाहिए था तदनन्तर 'नमो अरिहंताणं' यह पद ठीक था?

गुरु—हे शिष्य! सब से पहले उपकारी को नमस्कार किया जाता है अतः चार कर्मों से युक्त होने पर भी सब से प्रथम अर्हन्तों को नमस्कार करना युक्तियुक्त है। कारण कि केवल ज्ञान के होने से वे भव्यजीवों के तारने के लिये स्थान २ पर उपदेश देते हैं, वह उपदेश भव्य प्राणियों के लिये ज्ञान प्राप्त होता है, पुन ज्ञान ही अन्य सब कामों से बढ़ कर परो-

शिष्य—हे भगवन् ! उन पुद्गल स्कंधों में वर्ण, गंध, रस और स्पर्श कितने कितने होते हैं ?

गुरु—हे शिष्य ! उन कर्म वर्गणाओं के परमाणुओं में पांच वर्ण, पांच रस, दो गंध और चार स्पर्श होते हैं।

शिष्य—हे भगवन् ! उनके नाम बतलाओ।

गुरु—हे शिष्य ! सुनो। पांच वर्ण (काला, पीला, लाल, हरा और श्वेत), पांच रस (कटुक, कषाय, तीक्ष्ण, खट्टा और मधुर), दो गंध, (सुगंध और दुर्गन्ध), चार स्पर्श (स्निग्ध, रूक्ष, शीत, उष्ण) हैं।

शिष्य—हे भगवन् ! क्रोध, मान, माया लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, रति, अरति, माया, मृषा, तथा मिथ्या दर्शन आदि पापों के करते समय आत्मा के साथ किस वर्णादि वाले परमाणुओं का सम्बन्ध होता है ?

गुरु—हे शिष्य ! अठारह प्रकार के पापों के करते समय आत्म प्रदेशों के साथ पांच वर्ण, पांच रस, दो गंध और चार स्पर्श वाले परमाणुओं का बंध होता है। कारण कि वे बादर सूक्ष्म स्कंध होते हैं।

शिष्य—हे भगवन् ! जब अठारह प्रकार के पापों से निवृत्ति की जाती है, उस समय आत्मा के साथ किस प्रकार के परमाणुओं का बंध होता है ?

गुरु—हे शिष्य ! निवृत्ति करते समय जीवोपयोग

---

१ अर्हत्यादि—'अथयेति' यथादिविरमणानि योगस्वरूपाणि जीवोपयोगस्यामूर्तोऽमूर्तत्वाय तस्माद्वर्णादिरहितमिति।

शिष्य—हे भगवन् ! उन पुद्गल स्कंधों में वर्ण, गंध रस और स्पर्श कितने कितने होते हैं ?

गुरु—हे शिष्य ! उन कर्म वर्गणाओं के परमाणुओं में पांच वर्ण, पांच रस, दो गंध और चार स्पर्श होते हैं।

शिष्य—हे भगवन् ! उनके नाम बतलाओ।

गुरु—हे शिष्य ! सुनो। पांच वर्ण (काला पीला लाल हरा और श्वेत), पांच रस (कटुक, कषाय, तीक्ष्ण, खट्टा और मधुर), दो गंध (सुगंध और दुर्गन्ध) चार स्पर्श (स्निग्ध, रूक्ष, शीत, उष्ण) हैं।

शिष्य—हे भगवन् ! क्रोध, मान, माया लोभ राग, द्वेष कलह, अभ्याख्यान, रति, अरति, माया, मृषा तथा मिथ्या दर्शन आदि पापों के करते समय आत्मा के साथ किस प्रकार के परमाणुओं का सम्बन्ध होता है ?

गुरु—हे शिष्य ! अठारह प्रकार के पापों के करते समय आत्म प्रदेशों के साथ पांच वर्ण पांच रस, दो गंध और चार स्पर्श वाले परमाणुओं का बंध होता है। कारण कि वे [illegible] स्कंध होते हैं।

शिष्य—हे भगवन् ! जब अठारह प्रकार के पापों से निवृत्ति की जाती है, तब स्वच्छ आत्मा के साथ किस प्रकार के परमाणुओं का बन्ध होता है ?

गुरु—हे शिष्य ! निवृत्ति करते समय [illegible]

[illegible]

[illegible]

है. ईहा से विशिष्ट बोध का नाम अवाय है और अवाय से विशिष्ट ज्ञान का नाम धारणा है।

शिष्य—हे भगवन्! कोई दृष्टान्त देकर इनके अर्थ को स्पष्ट करके समझाइए।

गुरु—हे शिष्य! जिस प्रकार कोई व्यक्ति सोया हुआ है, जब कोई उसे शब्द द्वारा जागृत करता है, तब वह निद्रा के आवेश में शब्द को न पहचानता हुआ भी हुंकार करता है, इसी को अवग्रह कहते हैं। जब वह अवग्रह ज्ञान से ईहा ज्ञान में प्रविष्ट होता है तब वह शब्द की परीक्षा करता है कि यह शब्द किसका है? जब फिर वह ईहा से अवाय ज्ञान में आता है तब वह 'यह अमुक व्यक्ति का शब्द है' इस प्रकार भली भांति जान लेता है। जब उसने शब्द को भली भांति अवगत कर लिया तब फिर वह उस शब्द के ज्ञान को धारण करता है कि इसने किस कार्य के लिये मुझे जगाया है और वह अमुक कार्य मेरे अवश्य करणीय है। इसी का नाम धारणा है। अवग्रह और ईहा अनाकारोपयुक्त कहे जाते हैं। अवाय और धारणा साकारोपयुक्त कहे जाते हैं। अवग्रह और ईहा सामान्य बोध तथा अवाय और धारणा विशिष्ट बोध के नाम से कहे जाते हैं अथवा अवग्रह और ईहा दर्शन के नाम से तथा अवाय और धारणा ज्ञान के नाम से कहे जाते हैं। जीव गुण होने से ये सब अरूपी हैं।

शिष्य—हे भगवन्! उत्थान कर्म बल वीर्य और पुरुषार्थ-ये रूपी हैं वा अरूपी?

गुरु—हे शिष्य! जीव गुण होने से ये सब अरूपी हैं।

शिष्य—हे भगवन् ! १ ज्ञानावरणीय २ दर्शनावरणीय ३ वेदनीय ४ मोहनीय ५ आयुष ६ नाम ७ गोत्र और ८ अंतराय—इन कर्मों की मूल प्रकृतियों में कितने वर्णादि हैं ?

गुरु—हे शिष्य ! उक्त आठों प्रकार की कर्मों की मूल प्रकृतियों में पांच वर्ण, पांच रस, दो गंध और चार स्पर्श होते हैं।

शिष्य—हे भगवन् ! जीव के कृष्ण लेश्या, नील लेश्या, कापोत लेश्या, तेजो लेश्या, पद्म लेश्या और शुक्ल लेश्या इन छः प्रकार के परिणामों में कितने वर्णादि होते हैं ?

गुरु—हे शिष्य ! कृष्णादि छओं द्रव्य लेश्याओं में ५ वर्ण ५ रस २ गंध और ८ स्पर्श होते हैं। किन्तु जो छः भाव लेश्यायें हैं वे अरूपी हैं, कारण कि वे जीव ही के परिणाम विशेष होते हैं। किन्तु जो कृष्णादि छः द्रव्य लेश्यायें हैं वे अनंत प्रदेशी बादर स्कंध होने से आठ स्पर्श वाली कथन की गई हैं। कृष्ण, नील और कापोत—ये तीन अशुभ लेश्यायें हैं। तेजो, पद्म और शुक्ल—ये तीन शुभ लेश्यायें हैं। पहली तीन अधर्म लेश्यायें हैं और पिछली तीन शुभ लेश्यायें हैं पिछली तीनों को धर्म लेश्या भी कहते हैं। ये सब लेश्यायें कर्म और योग के सम्बन्ध से ही जीव के परिणाम विशेष हैं।

शिष्य—हे भगवन् ! सम्यग्दृष्टि १ मिथ्यादृष्टि २ मिश्रदृष्टि ३, चक्षुदर्शन १ अचक्षुदर्शन २ अवधिदर्शन ३ और केवलदर्शन ४, आभिनिबोधिक ज्ञान १ श्रुत ज्ञान २ अवधि ज्ञान ३ मनःपर्यवज्ञान ४ और केवल ज्ञान ५, मति अज्ञान १ श्रुत अज्ञान २ और विभंग अज्ञान ३, आहार संज्ञा १ भय संज्ञा २ मैथुन

... या स्वामी

... सक है, स ...

... कर्मादि कर्म बन्ध

... इन सब साथी

... होता है।

... और मन करी है

... तथा अन्तर

... मनन शक्ति

... परमाणुओं के

... ज्ञान है।

... बलवती हो

... मनःशक्ति

... के सहारे

... मन को

... कारण से उसका नाम

... परमाणुओं के ...

... निरंतर

... ज्ञान हो जाता।

... कर्म बांध करता है या स्वामी?

गुरु—हे शिष्य ! काय योग के अनंत प्रदेशी [illegible] वर्ण [illegible] गन्ध और ८ स्पर्श वाले होते हैं । अत [illegible] योग भी [illegible] है ।

शिष्य—हे भगवन् ! जब ज्ञानपूर्वक मनोयोग वचन योग और काय योग का निरोध किया जाय तब [illegible] की प्राप्ति होती है ?

गुरु—हे शिष्य ! जब तीनों योगों का सर्वथा ज्ञानपूर्वक निरोध किया जाय तब आत्मा अयोगी हो जाता है [illegible] आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त [illegible] सुख और अनन्त शक्ति वाला होकर निर्वाण पद प्राप्त कर लेता है इस लिये आत्मार्थी को योग्य है कि वह पहले निरर्थक योगों के निरोध करने का अभ्यास करे फिर अशुभ योगों के निरोध करने का अभ्यास करे, तदनु शुभ योगों का निरोध करके [illegible] इन योगों को ज्ञान और ध्यान में लीन कर देवे [illegible] अयोग पद धारण करके [illegible] पद की प्राप्ति कर जिससे संसारचक्र से विमुक्त होकर सदा निजस्वरूप में निमग्न होकर [illegible] परमात्म पद की प्राप्ति कर सके । यह कार्य सिद्धान्तों का सार है ।

तब श्री गुरु वचन सुनकर [illegible] शिष्य गुरु [illegible] के अनुसार [illegible] क्रियाओं के करने में लग [illegible] जिससे निर्वाण पद की प्राप्ति हो सकती है ।

बारहवां पाठ

नीतिशास्त्रविषय

[illegible] अध्ययन करने से सभ्यता [illegible] अतएव यह शास्त्र प्रत्येक व्यक्ति [illegible] नीति शास्त्र के नाम पर कति-पय [illegible] रचना हुई है, किन्तु वह नीति सभ्य पुरुषों [illegible] नहीं है। भले ही कुटिल नीति [illegible] हो जाता है किन्तु यह सिद्धि [illegible] अन्तिम परिणाम भी उत्तम नहीं निकलता [illegible] द्वारा कार्य सिद्धि करना [illegible] होना चाहिए।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि [illegible] नीति में दोनों प्रकार के उल्लेख मिलते हैं तो हम भी दोनों प्रकार की नीतियों से ही काम लेना चाहिए। इस प्रश्न के समाधान में कहा जाता है कि यह ठीक है किन्तु सभ्य समाज को कुटिल नीति के आश्रित कदापि नहीं होना चाहिए। जैसे कि वैद्यक ग्रन्थों में सर्व प्रकार के मांसों का भी विधान पाया जाता है तो क्या फिर आर्य पुरुष आर्य औषध को छोड़कर मांस आसे-वन करने लग जावें? कदापि नहीं। इसी प्रकार कुटिल नीति के विषय में भी जानना चाहिए।

अर्थ—वह क्या भृत्य और सखा है जो कार्य के समय धन याचना से नहीं हटता।

यार्थेन प्रणयिनी करोति चाज्ञाकुटिं सा किं भार्या १०२

अर्थ-जिस स्त्री का पति से केवल धन और विषय के उद्देश से ही प्रेम है, वह भार्या ही क्या है।

स किं देशो यत्र नास्त्यात्मनो वृत्तिः १०३

अर्थ—वह देश ही क्या है, जहां पर आत्मवृत्ति नहीं है।

स किं बन्धुः यो व्यसने नोपतिष्ठते १०४

अर्थ—वह भाई क्या है जो कष्ट के समय सहायक नहीं होता।

तत्किं मित्रं यत्र नास्ति विश्वासः १०५

अर्थ—वह मित्र ही क्या है जिस पर विश्वास नहीं है।

स किं गृहस्थो यस्य नास्ति सत्कलत्रसंपत्तिः १०६

अर्थ—जिस गृह में आज्ञाकारिणी और पतिव्रता स्त्री नहीं है, वह गृहस्थ क्या है।

तत् किं दानं यत्र नास्ति सत्कारः १०७

अर्थ—वह दान ही क्या है, जहां पर सत्कार नहीं है।

तत् किं भुक्तं यत्र नास्त्यतिथिसंविभागः १०८

अर्थ—वह खाना ही क्या है जहां पर अतिथि संविभाग (अतिथि सत्कार) नहीं किया जाता।

तत् किं प्रेम यत्र कार्यवशात् प्रत्यावृत्तिः १०९

अर्थ—वह प्रेम ही क्या है जो किसी कार्य के वश होकर किया जाता है। अर्थात् प्रेम गुण से नहीं अपितु कार्य से है।

तत् किमपत्यं यत्र नाऽध्ययनं विनयो वा ११०

अर्थ – वह अपत्य ही क्या है जो न तो विद्वान है और न विनयशील ही है

तत्किं ज्ञानं यत्र मदेनान्धता चित्तस्य १११

अर्थ – वह ज्ञान ही क्या है जिसके पढ़ने से चित्त को मद से आकुलता हो जाय

तत्किं सौजन्यं यत्र परोक्षे पिशुनभावः ११२

अर्थ – वह सज्जनता ही क्या है जिसमें परोक्ष में चुगली की जाती है।

सा किं श्रीर्यया न सन्तोषः सत्पुरुषाणाम् ११३

अर्थ – वह लक्ष्मी क्या है जिस की प्राप्ति में संतोष नहीं होता। अर्थात् लक्ष्मी से और भी दुःख होता है।

तत्किं कृत्यं यत्रोपकृतस्य ११४

अर्थ – वह उपकार ही क्या जिसके फल की याद रहे। अर्थात् जिस पर उपकार किया गया उसी से उसके फल की याद रखना चाहे तो फिर वह उपकार ही क्या है।

उपकृत्य मूकभावोऽभिजातीनाम् ११५

अर्थ – कुलीन पुरुष उपकार करके मूक होजाते हैं।

परदोषश्रवणे बधिरभावः सत्पुरुषाणाम् ११६

अर्थ – परदोष श्रवण करने में सत्पुरुषों का बधिर भाव होता है।

परकलत्रदर्शने अन्धभावो महाभाग्यानाम् ११७

अर्थ—पर स्त्री के दर्शन करने से महाभाग्यवानों का अन्ध भाव होता है। अर्थात् महाभाग्यवान वही है जो पर स्त्री को पाप दृष्टि से नहीं देखते।

पयसा इव नीत्वा उदरस्थापिता अपि नाविकुर्वाणास्तिष्ठन्ति ११८

अर्थ—जैसे पुराने फलों की तरह उदर में स्थापन किये जाने पर विकार किये बिना नहीं ठहरते। अर्थात् जिस प्रकार अन्न उदर में जाने पर विकार उत्पन्न किये बिना नहीं रहते उसी प्रकार नीच पुरुष कल्पित उपकार किये जाने पर भी विकार किये बिना नहीं रहते।

गुर्वाधारं यथादानेन यशोकरणम् ११९

अर्थ—वही दान वही है जिससे दान से अन्य आत्माओं को वश किया जाय।

सा सभा सभासदों वरणी न सन्ति विद्वांसः १२०

अर्थ—वह सभा अरण्य के समान है जिसमें विद्वान नहीं हैं अर्थात्—सभा वही होती है जिसमें विद्वानों का समागम हो। क्योंकि जब सभा में विद्वानों का समागम होता है तब सब पदार्थों का निर्णय अच्छी रीति से हो जाता है। यदि मूर्ख [illegible] होकर [illegible] और [illegible] उत्पन्न होता है। अतः सभा वही [illegible] है जिसमें [illegible] हों।

[illegible] के [illegible] प्रकार के [illegible] हैं [illegible] को [illegible] है कि [illegible] का [illegible]

से इन्द्रिय विषय उद्भूत की जाती हैं।

संसारत्यागी पुरुषों की महिमा

१ देखो, जिन लोगों ने सब कुछ त्याग दिया है और जो तपस्वी जीवन व्यतीत करते हैं, धर्म शास्त्र उनकी महिमा को और सब बातों से अधिक उत्कृष्ट बताते हैं।

२ तुम तपस्वी लोगों की महिमा को नहीं माप सकते। यह काम उतना ही कठिन है जितना सब मुर्दों की गणना करना।

३ देखो, जिन लोगों ने परलोक के साथ इहलोक का मुकाबला करने के बाद इसे त्याग दिया है उन की ही महिमा से यह पृथ्वी जगमगा रही है।

४ देखो, जो पुरुष अपनी सुदृढ़ इच्छा शक्ति के द्वारा अपनी पाँचों इन्द्रियों को इस तरह वश में रखता है जिस तरह हाथी अंकुश द्वारा वशीभूत किया जाता है, वास्तव में वही स्वर्ग के खेतों में बोने योग्य बीज है।

५ जितेन्द्रिय पुरुष की शक्ति का साक्षी स्वयं देवराज इन्द्र है।

६ महापुरुष वही हैं, जो असंभव कार्यों का संपादन करते हैं। और दुर्बल मनुष्य वे हैं जिनसे वे काम हो नहीं सकते।

७ देखो, जो मनुष्य शब्द स्पर्श रूप रस और गंध-इन पाँच इन्द्रिय विषयों का यथोचित मूल्य समझता है, वह सारे संसार पर शासन करेगा।

८ संसार भर के धर्म ग्रंथ सत्य वक्ता महात्माओं की महिमा की घोषणा करते हैं।

९ त्याग की चट्टान पर खड़े हुए महात्माओं के क्रोध को एक क्षण भर भी सह लेना असंभव है।

१० साधु प्रकृति पुरुषों ही को आश्रय करना चाहिए। वही लोग सब प्राणियों पर दया रखते हैं।

धर्म की महिमा का वर्णन

१ धर्म से मनुष्य को मोक्ष मिलता है और उससे धर्म की प्राप्ति भी होती है, फिर भला धर्म से बढ़ कर लाभ दायक वस्तु और क्या है।

२ धर्म से बढ़ कर दूसरी और कोई नेकी नहीं और उसे भुला देने से बढ़ कर दूसरी कोई बुराई भी नहीं है।

३ नेक काम करने में तुम लगातार अपनी पूरी शक्ति और सब प्रकार से पूरे उत्साह के साथ उन्हें करते रहो।

४ अपना मन पवित्र रक्खो धर्म का समस्त सार बस एक ही उपदेश में समाया हुआ है। बाकी और सब बातें कुछ नहीं, केवल शब्दाडम्बर मात्र हैं।

५ ईर्ष्या, लालच, क्रोध और अप्रिय वचन—इन सब से दूर रहो, धर्म प्राप्ति का यही मार्ग है।

६ यह मत सोचो कि—मैं धीरे धीरे धर्म करने का अभ्यास करूंगा बल्कि अभी [illegible] और धर्म करना शुरू कर दो। क्योंकि धर्म ही वह वस्तु है जो मौत के दिन तुम्हारा साथ देने वाला [illegible]

७ मुझ से यह मत पूछो कि धर्म से क्या लाभ है। एक बार पालकी उठाने वाले [illegible] और [illegible] फिर उस पालकी को देखो [illegible]

= अगर तुम एक भी दिन व्यर्थ नष्ट किये बिना [illegible] [illegible] में नेक काम करते हो तो तुम आगामी जन्मों का मार्ग [illegible] किए बस हो।

[illegible] केवल [illegible] सुख ही वास्तविक सुख है बाकी सब [illegible] पीड़ा और भ्रम मात्र है।

[illegible] जो कार्य धर्म संगत है बस वही कार्यरूप में परिणत [illegible] जाना है दूसरी जितनी बातें धर्म विरुद्ध हैं, उनसे दूर रहना चाहिए

प्रेम

[illegible] क्या तुम अपना हृदय कहां है? जो प्रेम के [illegible] को बन्द कर सके प्रेमियों की आंखों से सुशोभित मधु-बिन्दु [illegible] इस उपस्थिति की घोषणा किये बिना न रहेंगे।

[illegible] जो प्रेम नहीं करते वे सिर्फ अपने ही लिये जीते हैं [illegible] जो दूसरों का प्यार करते हैं उन की हड्डियाँ भी दूसरों [illegible] आती है

[illegible] कि प्रेम का मज़ा चखने के ही लिये आत्मा एक [illegible] अस्थिपंजर में बंद होने को राजी हुआ है।

[illegible] हृदय [illegible] हो उठता है और उस [illegible] [illegible] बहुमूल्य रत्न पैदा होता है।

[illegible] कहता है कि आत्मत्यागी का जीवात्मा [illegible] [illegible] दूसरी बातों में उस के [illegible] प्रेम [illegible] [illegible] है

[illegible] जो कहते हैं कि प्रेम केवल नेक पुरुषों [illegible]

के लिये है। क्योंकि बुरों के विरुद्ध खड़े होने के लिये भी प्रेम ही मनुष्य का एकमात्र साथी है।

७ देखो अस्थिहीन कीड़े को सूर्य किस तरह जला देता है ठीक उसी तरह नेकी उस मनुष्य को जला डालती है जो प्रेम नहीं करता।

८ जो मनुष्य प्रेम नहीं करता वह तभी फूले फलेगा जब मरुभूमि के सूखे हुए वृक्ष के ठुण्ठ में कोपलें निकलेंगी।

९ बाह्य सौन्दर्य किस काम का जब कि प्रेम, जो आत्मा का भूषण है, हृदय में न हो।

१० प्रेम जीवन का प्राण है। जिस में प्रेम नहीं, वह केवल मांस से घिरी हुई हड्डियों का ढेर है।

मृदु भाषण

१ सत्पुरुषों की वाणी ही वास्तव में सुस्निग्ध होती है क्योंकि वह दयार्द्र कोमल बनावट से खाली होती है।

२ औदार्यमय दान से भी बढ़कर सुन्दर गुण वाणी की मधुरता और दृष्टि की स्निग्धता तथा स्नेहार्द्रता में है।

३ हृदय से निकली हुई मधुर वाणी और ममतामयी स्निग्ध दृष्टि के अन्दर ही धर्म का निवास स्थान है।

४ देखो जो मनुष्य सदा ऐसी वाणी बोलता है कि जो सब के हृदय को आल्हाद दान कर दे उसके पास दुःखों की अभिवृद्धि करने वाली दरिद्रता कभी न आयेगी?

५ नम्रता और स्नेहार्द्र वक्तृता बस केवल ये ही मनुष्य के आभूषण हैं और कोई नहीं।

६ यदि तुम्हारे विचार शुद्ध और पवित्र हैं और तुम्हारी वाणी में सहृदयता है तो तुम्हारी पापवृत्ति का क्षय हो जायगा और धर्मशीलता की अभिवृद्धि होगी।

७ सेवाभाव का प्रदर्शन करने वाला और विनम्र वचन मित्र बनाता है और बहुत से लाभ पहुंचाता है।

८ वे शब्द जो कि सहृदयता से पूर्ण और क्षुद्रता से रहित होते हैं इहलोक और परलोक दोनों ही जगह लाभ पहुंचाते हैं।

९ अति प्रिय शब्दों के अन्दर जो मधुरता है उस का अनुभव कर लेने के बाद भी मनुष्य कठोर शब्दों का व्यवहार करना क्यों नहीं छोड़ता।

१० मीठे शब्दों के रहते हुए भी जो मनुष्य कड़वे शब्दों का प्रयोग करता है वह मानो पके फल को छोड़कर कच्चा फल खाना पसन्द करता है।

कृतज्ञता

१ एहसान करने के विचार से रहित होकर जो दया दिखलाई जाती है, स्वर्ग मर्त्य दोनों मिलकर भी उसका बदला नहीं चुका सकते।

२ ज़रूरत के वक़्त जो मेहरबानी की जाती है वह देखने में छोटी भले ही हो मगर वह तमाम दुनिया से ज़्यादा वज़नदार है।

३ बदले के ख्याल को छोड़कर जो भलाई की जाती है वह समुद्र से भी अधिक बलवती है।

४ किसी से प्राप्त किया हुआ लाभ राई की तरह छोटा

क्यों न हो किन्तु समझदार आदमी की दृष्टि में वह ताड़ के वृक्ष के बराबर है।

५ कृतज्ञता की सीमा किये हुए उपकार पर अवलम्बित नहीं है। उसका मूल्य उपकृत व्यक्ति की शराफत पर निर्भर है।

६ महात्माओं की मित्रता की अवहेलना मत करो और उन लोगों का त्याग मत करो जिन्होंने मुसीबत के वक्त तुम्हारी सहायता की।

७ जो किसी को कष्ट से उबारता है जन्म जन्मान्तर तक उस का नाम कृतज्ञता के साथ लिया जायेगा।

८ उपकार को भूल जाना नीचता है लेकिन यदि कोई भलाई के बदले बुराई करे तो उस को फौरन ही भुला देना शराफत की निशानी है।

९ हानि पहुंचाने वाले की यदि कोई मेहरबानी याद आ जाती है तो महाभयंकर व्यथा पहुंचाने वाली चोट उसी दम भूल जाती है।

१० और सब दोषों से कलंकित मनुष्यों का तो उद्धार हो सकता है किन्तु अभागे अकृतज्ञ मनुष्य का कभी उद्धार न होगा।

आत्म संयम

१ आत्म संयम से स्वर्ग प्राप्त होता है, किन्तु असंयत इन्द्रिय लिप्सा रौरव नरक के लिये खुली शाह राह है।

२ आत्मसंयम की अपने खजाने की तरह रक्षा करो उस से बढ़कर इस दुनिया में जीवन के पास और कोई धन नहीं है।

३ जो पुरुष ठीक तरह से समझ बूझकर अपनी इच्छाओं

[illegible]

[illegible] करना और [illegible] हिंसा से [illegible]

[illegible] लोगों का [illegible]

[illegible] और उनकी सेवा शुश्रूषा [illegible] विचार से [illegible]

[illegible] और इन लोगों [illegible] करते हैं वो ज्ञान [illegible]

[illegible] पूर्ण कर देना [illegible] प्रदान करते हैं।

[illegible] में अपना [illegible] हुए हैं और [illegible]

[illegible] है वह जितनी ही ज्यादा [illegible] होता है [illegible] उतना ही ज्यादा [illegible] मिलता है ठीक इसी तरह [illegible] जितनी ही कड़ी मुसीबतें सहता है उसका [illegible] उतना ही अधिक विशुद्ध हो उठती है।

[illegible] प्राप्त कर लिया है उस पुरुषोत्तम को सभी [illegible] पूजते हैं

[illegible] सिद्धि प्राप्त कर ली है वे मृत्यु को जीवन में ही [illegible] हैं।

१० अगर दुनिया में हाजतमन्दों की तादाद अधिक है तो इसका कारण यही है कि वे लोग जो तप करते हैं, थोड़े हैं, और जो तप नहीं करते हैं, उनकी संख्या अधिक है।

अहिंसा

१ अहिंसा सब धर्मों में श्रेष्ठ है। हिंसा के पीछे हर तरह पाप लगा रहता है।

२ हाजतमन्द के साथ अपनी रोटी बांट कर खाना और हिंसा से दूर रहना यह सब पैगम्बर के समस्त उपदेशों में श्रेष्ठतम उपदेश है।

३ अहिंसा सब धर्मों में श्रेष्ठ धर्म है। सचाई का दर्जा उसके बाद है।

४ नेक रास्ता कौन सा है? यह वही मार्ग है जिस में इस बात का ख्याल रखा जाता है कि छोटे से छोटे जानवर को भी मारने से किस तरह बचाया जावे।

५ जिन लोगों ने इस पापमय सांसारिक जीवन को त्याग दिया है, उन सब में मुख्य वह पुरुष है जो हिंसा के पाप से डर कर अहिंसा मार्ग का अनुसरण करता है।

६ धन्य है वह पुरुष जिसने अहिंसा व्रत धारण किया है। मौत जो सब जीवों को खा जाती है, उसके दिनों पर हमला नहीं करती।

७ हमारी जान पर भी आ बने तब भी किसी की प्यारी जान मत लो।

८ लोग कह सकते हैं कि बलि देने से बहुत बरकतें मिला-

६ हंसी दिल्लगी करने वाली गोष्ठी का नाम मित्रता नहीं है, मित्रता तो वास्तव में प्रेम है जो हृदय को आल्हादित करता है।

७ जो मनुष्य तुम्हें बुराई से बचाता है, नेक राह पर चलाता है और जो मुसीबत के वक्त साथ देता है, बस वही मित्र है।

८ देखो, उस आदमी का हाथ कि जिस के कपड़े हवा से उड़ गये हैं, कितनी तेज़ी के साथ फिर से अपने बदन को ढकने के लिये दौड़ता है! यही सच्चे मित्र का आदर्श है जो मुसीबत में पड़े हुए आदमी की सहायता के लिये दौड़ कर जाता है।

९ मित्रता का दरबार कहां पर लगता है? बस वहीं पर कि जहां दिलों के बीच में अनन्य प्रेम और पूर्ण एकता है और जहां दोनों मिल कर हर एक तरह से एक दूसरे को उच्च और उन्नत बनाने की चेष्टा करें।

१० जिस दोस्ती का हिसाब लगाया जा सकता है उसमें एक तरह का कंगालापन होता है। वह चाहे कितने ही गर्व पूर्वक कहे—मैं उसको इतना प्यार करता हूं और वह मुझे इतना चाहता है।

मित्रता के लिये योग्यता की परीक्षा

१ इससे बढ़ कर बुरी बात और कोई नहीं है कि बिना परीक्षा किये किसी के साथ दोस्ती कर ली जाय क्योंकि एक बार मित्रता हो जाने पर सहृदय पुरुष फिर उसे छोड़ नहीं सकता।

२ देखो जो पुरुष पहले आदमियों की जाँच किये बिना ही उन को मित्र बना लेता है वह अपने सिर पर ऐसी आपत्तियों को बुलाता है कि जो फिर उसकी मौत के साथ ही समाप्त होंगी।

३ जिस मनुष्य को तुम अपना दोस्त बनाना चाहते हो उसके कुल को, उसके गुण दोषों को, कौन २ लोग उसके साथी हैं और किन किन के साथ उसका सम्बन्ध है—इन सब बातों को अच्छी तरह से विचार कर लो और उसके बाद यदि वह योग्य हो तो उसे दोस्त बना लो।

४ देखो जिस पुरुष का जन्म उच्च कुल में हुआ है और जो बदनामी से डरता है उसके साथ आवश्यकता पड़े तो मूल्य देकर भी दोस्ती करनी चाहिये।

५ ऐसे लोगों को खोजो और उनके साथ दोस्ती करो कि जो सन्मार्ग को जानते हैं और तुम्हारे बहक जाने पर तुम्हें झिड़क कर तुम्हारी भर्त्सना कर सकते हैं।

६ आपत्ति में भी एक गुण है वह एक पैमाना है जिससे तुम अपने मित्रों को नाप सकते हो।

७ निस्सन्देह मनुष्य का लाभ इसी में है कि वह मूर्खों से मित्रता न करे।

८ ऐसे विचारों को मन आने दो जिनसे मन सोत्साह और उदार न हो और न ऐसे लोगों से दोस्ती करो कि जो दुःख पड़ते ही तुम्हारा साथ छोड़ देंगे।

९ जो लोग मुसीबत के वक्त धोखा दे जाते हैं उनकी मित्रता की याद मौत के वक्त भी दिल में जलन पैदा करेगी।

K. R. Jain at the [illegible]
Said Mitha [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]